ISSN : 2231-0509
वर्ष 21/अंक 4/जुलाई-अगस्त, 2019

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

वर्ष 21/अंक 4/जुलाई-अगस्त, 2019

प्रधान संपादक रोहित धनकर

संपादन राजेश कुमार

प्रबंधक रीना दास

कला पक्ष रामकिशन अडिग

कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क

शिक्षा विमर्श

दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,

जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान

फोन : (0141) 2750310

मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)

ई मेलः shikshavimarsh@digantar.org

वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	**300**	**450**
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)

ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय

शिक्षा और स्वतंत्रता 3

❑ रोहित धनकर

विश्लेषण

सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता

उत्तर-कल्याणकारी राज्य में शिक्षा का अधिकार 7

❑ कृष्ण कुमार

परिदृश्य

सरकारी स्कूल : व्यवस्था की जड़ता

और शिक्षकों की उदासीन अभिवृत्ति 16

❑ ऋषभ कुमार मिश्र

पड़ताल

एकहि साधे सब सधे 21

❑ राजेश कुमार

कक्षा शिक्षण

प्रजनन को लेकर बच्चों के सवाल

शिक्षक की दुविधा 28

❑ कालू राम शर्मा

कक्षा शिक्षण

कहानी निर्माण प्रक्रिया और भाषा शिक्षण 33

❑ मौअज़्ज़म अली

पुस्तक समीक्षा

स्मृतियों का नाचघर 39

❑ नवनीत नीरव

मुख्य आवरण चित्र : चीन का एक प्राचीन स्कूल

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

शिक्षा और स्वतंत्रता

स्वतंत्रता शायद मनुष्य की सबसे बलवती कामना है। छोटे बच्चे भी उनको अपने मन की न करने दी जाए तो विरोध करते हैं, मन की करने के लिए रोते-मचलते हैं, और बहुत रोको तो आंख बचा कर करते हैं। इम्मानुयल कांट अपने लेक्चर्स ऑन पेडागोजी में कहते हैं कि मानव स्वभाव में ही स्वतंत्रता के प्रति इतना प्रबल आकर्षण होता है कि इसकी आदत हो जाने के बाद वह इसके लिए सब कुछ दांव पर लगा सकता है। समाज में एक वयस्क से अपेक्षा की जाती है कि वह क्या करना चाहता है और कैसे करना चाहता है खुद तय करे। बहुत से शिक्षा-दार्शनिक मानते हैं कि शिक्षा का एक बहुत महत्वपूर्ण उद्देश्य स्वायत्तता होता है या होना चाहिए। इनमें शेफ्लर, पीटर्स, हर्स्ट, डीयर्डेन, विंच आदि बहुत से शिक्षा दर्शिनिकों को गिना जा सकता है। टैगोर तो 'मैन द आर्टिस्ट' में जीवन के उद्भव को ही जड़त्व से स्वतंत्रता के रूप में देखते लगते हैं, और फिर मानव को तो स्वयंभू तक ले जाते हैं। गांधी भी हिन्द स्वराज में अपने ऊपर अपने राज्य अर्थात व्यक्ति-स्वायत्तता की बात करते हैं। इन दिनों भारत में लगभग हर शहर में आजादी के नारे लग ही रहे हैं। ये सब देखते हुए मानव की महती आकांक्षा के रूप में स्वतंत्रता तो निर्विवाद ही लगती है।

पर सवाल यह है कि यह स्वतंत्रता चीज क्या है? क्या चींटी की गुड़ के पास पहुंचने की भरसक कोशिश उसका स्वतंत्र प्रयास है? क्या बया का इतना सुघड़ घोंसला बनाना उसका स्वतंत्र प्रयास है? क्या शराबी के हर शाम मदिरालय की तरफ उठते कदम उसका स्वतंत्र कर्म है? क्या गौरक्षा के नाम पर लोगों को मारने वाले स्वायत्त व्यवहार कर रहे हैं? क्या मुहम्मद के बारे में कुछ कह देने वाले को मार देने वाले स्वायत्त व्यवहार करते हैं? क्या आंख मूंद कर नारे लगाने वाले स्वतंत्र हैं?

पहली नजर में चींटी और बया के व्यवहार को तो सहज-प्रवृति (instinct) से संचालित कहा जा सकता है। उनका व्यवहार पूरी तरह सहज-प्रवृति के वश में है, कोई विचार-पूर्वक निर्णय की वहां न जरूरत है और ना ही संभावना। अतः इन दोनों में तो किसी प्रकार की स्वतंत्रता, आजादी या स्वायत्तता की बहुत गुंजाइश नहीं है। पर ऐसा कह देने में दो बातें निहित हैं। **एक**, किसी व्यवहार को स्वतंत्र कहने के लिए एकाधिक विकल्पों में से कोई एक चुनने का अवसर चाहिए; और **दो**, उन विकल्पों में से चुनाव किसी विचार के आधार पर होना चाहिए, ना कि निराधार कुछ भी कर लेना या मान लेना। अर्थात, आंख पर पट्टी बांध कर सामने पड़ी चीजों में से कोई एक उठा लेना या अक्कड़-बक्कड़ करके एक उठा लेना किसी विचार के आधार पर चुनाव नहीं है; अतः स्वतंत्र-चुनाव भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह देखें तो इस दूसरी शर्त पर सोचने में एक और सवाल उठ खड़ा होता है; **तीन**, क्या किसी भी विचार पर आधारित निर्णय/व्यवहार को स्वतंत्र कहा जा सकता है? अर्थात, क्या किसी मतारोपित (indoctrinated) विचार के अधीन व्यवहार भी स्वतंत्र व्यवहार कहा जाएगा? क्या कंडिसंड (conditioned) व्यवहार भी स्वतत्र कहा जाएगा? इन सवालों पर शिक्षादर्शन में काफी विचार हो चुका है। उसकी कुछ झलक इस लेख के आखिर में रखेंगे।

इस संदर्भ में एक रुचिकर तथ्य यह है कि आजादी के आस-पास के संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति में ही कुछ शर्तें बुनी हुई दिखती हैं। यह सही है कि शब्दों के अर्थ समय और उपयोग के साथ बदलते और विकसित होते हैं, अतः केवल व्युत्पत्ति के आधार पर उनके वर्तमान अर्थ या अवधारणाओं का पूर्ण विश्लेषण नहीं हो

सकता। पर कई बार बहुत काम के और महत्वपूर्ण संकेत व्युत्पत्ति में मिल जाते हैं, उन्हें विश्लेषण में शामिल करना उपयोगी हो सकता है। इस दृष्टि से स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वायत्त, स्वछंद और उच्छृंखल शब्दों का संधि-विच्छेद करके अर्थ समझना उपयोगी हो सकता है। क्योंकि मैं संस्कृत नहीं जानता, इसलिए इस लेख को कुछ आरंभिक विचार के रूप में आगे किसी संस्कृत विद्वान के काम के लिए प्रस्ताव ही समझना चाहिए, ना की पूरा विश्लेषण।

वामन शिवराम आप्टे की 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' के अनुसार उपरोक्त शब्दों का संधि-विच्छेद इस प्रकार हैः स्वतंत्र=स्व+तंत्र, स्वाधीन=स्व+अधीन, स्वायत्त=स्व+आयत्त, स्वछन्द=स्व+छन्द। इन सब शब्दों में ''स्व'' उपसर्ग है। ''स्व'', जैसा कि हम सब जानते हैं और आप्टे के अनुसार भी, अपने-आप के अर्थ में काम में आता है- ''one's own, belonging to oneself, often serving as a reflexive pronoun''। अर्थात इन सभी शब्दों के अर्थ ''स्व-आधारित'', स्वयं पर निर्भर करने वाले होंगे।

'स्वतंत्र' में 'तंत्र' भी है। आप्टे के अनुसार 'तंत्र' का अर्थ है ''to rule, control, govern'', अर्थात ''शासन करना, नियंत्रण, नियमन करना''। इस अर्थ में ''स्वतंत्र'' का अर्थ हुआ 'अपने आप के, स्वयं के, नियंत्रण में'; 'स्वयं द्वारा नियमित'। हमारे लिए ध्यान देने की बात है ''नियमन''। स्वतंत्र का अर्थ 'अनियमित' नहीं होता, 'नियमित' होता है; पर यह नियमन 'स्वयं' द्वारा किया जाना चाहिए, तभी कोई व्यक्ति या व्यक्ति का कर्म-विशेष स्वतंत्र कहा जा सकता है।

स्वाधीन=स्व+अधीन। यहां हमें 'अधीन' शब्द पर विचार करना चाहिए, 'स्व' पर तो विचार कर ही चुके। आप्टे ''अधीन'' का अर्थ करते हैं ''subject to, subservient, dependent on'' अर्थात ''अनुसार/नियमित, अनुसेवी, निर्भर''। अर्थात स्वयं के अधीन, स्वयं द्वारा नियमित। यहां भी 'अनियमित' नहीं है। नियमन बस स्वयं का है। स्वायत्त=स्व+आयत्त। आप्टे के अनुसार 'आयत्त' माने ''dependent on, resting with''। अर्थातः किसी पर निर्भर होना। स्वायत्त का अर्थ होगा स्वयं पर निर्भर होना। स्वयं पर निर्भरता भी 'स्वयं द्वारा नियंत्रण' की तरफ इशारा करती है। कहने का तात्पर्य यह कि इन तीनों शब्दों में 'स्वयं के द्वारा नियमन' का भाव साफ है। और नियमन किसी नियम के माध्यम से ही संभव है। मतलब यह कि ''स्वतंत्रता'', ''स्वाधीनता'' और ''स्वायत्तता'' के सही अर्थों में हमारा व्यवहार किन्हीं 'स्वयं निर्धारित नियमों के अनुसार' होना होगा।

बात को साफ करने के लिए दो और शब्दों को देखते हैं। पहला, ''स्वछन्द=स्व+छन्द''। यहां भी उपसर्ग 'स्व' ही है। 'छन्द' का अर्थ आप्टे ''pleasing, fascinating, inviting, alluring'' आदि करते हैं। अर्थात 'स्वछन्द' में 'स्वयं' तो है, पर स्वयं द्वारा नियमन/नियंत्रण नहीं है; बल्कि 'मधुर, आकर्षक, मनभावन' आदि है। सवाल यह उठता हैं कि 'स्वछन्द' में 'स्व' नियंत्रक और नियामक है या मनभावन आदि द्वारा 'नियंत्रित' है? इस पर आगे विचार करेंगे। ''उच्छृंखल'' का अर्थ आप्टे ''unbridled, unrestrained, uncurbed; self-willed, perverse, irregular, desultory, unsystematic, आदि करते हैं। अर्थात अबाध, उद्दाम, अनियंत्रित, अनर्गल, निरंकुश, आदि। यह स्वछन्द से भी एक कदम आगे है। यहां भी किसी प्रकार के नियमन/नियंत्रण की बात नहीं है।

उक्त सारे शब्दार्थ-विश्लेषण का अर्थ है कि एक तरफ स्वतंत्रता, स्वाधीनता, स्वायत्तता आदि शब्द हैं जिनमें नियमन/नियंत्रण है, चाहे स्वयं का ही हो। दूसरी तरफ स्वछन्द और उच्छृंखल जैसे शब्द हैं जिनमें किसी प्रकार का नियंत्रण/नियमन नहीं है। जिसे हम उर्दू में आजादी और अंग्रेजी में फ्रीडम कहते हैं वह स्वतंत्रता आदि शब्दों की समानार्थक है; स्वछन्द और उच्छृंखल की नहीं। कम से कम मुझे यही लगता है।

पर क्या स्वयं के नियमों के अनुसार व्यवहार/निर्णय लाजमी तौर पर स्वतंत्र व्यवहार है? यहां हमें मनोवैज्ञानिक कंडीसनिंग (psychological conditioning), मतारोपण (indoctrination), कामना/वासना (desire) और व्यसन (addiction) द्वारा संचालित व्यवहार और निर्णयों पर विचार करना पड़ेगा। कई बार बच्चे अपने किसी अध्यापक या बड़े से डरने लगते हैं। इन में से कुछ बच्चे बड़े हो जाने पर भी उन अध्यापकों के सामने पड़ जाने पर डर महसूस करते हैं और उनके सामने कुछ कह नहीं पाते, बस हां में सिर हिलाते हैं। यह कंडीसंड व्यवहार है, शायद ही कोई इसे स्वतंत्र

या स्वायत्त व्यवहार बताए। बहुत बार धर्म, संस्कृति आदि के बारे में हमारे मन में कुछ विचार बैठ जाते हैं। उदाहरण के लिए 'नास्तिक व्यक्ति की कोई नैतिकता नहीं होती', 'मूर्तिपूजा कुफ्र है', 'गाय पवित्र होती है' आदि। इन पर हम तर्कपूर्ण विचार करने को तैयार नहीं होते। इन विचारों का विरोध करने वाले को तुरंत गलत मान लेते हैं और उससे नाराज होते हैं। ये दोनों व्यवहार नियम संचालित तो हैं। पहले में 'व्यक्ति-विशेष की उपस्थिति' और दूसरे में 'अपनी मान्यता-विशेष का विरोध न सहना' नियम के रूप में देखे जा सकते हैं। पर इनमें 'स्व' अनुपस्थित है। एक तो ये नियम हमने अपनी मर्जी से नहीं चुने; दूसरे, इन नियमों की विवेक-संगतता को हमने नहीं जांचा। अतः न तो ये नियम स्व के यानी 'हमारे अपने' हैं और ना ही हम इनका सचेत उपयोग कर रहे हैं। अतः ये व्यवहार हमारे-अपने अधीन, स्वयं द्वारा नियमित तो नहीं कहे जा सकते।

इसी तरह किसी प्रकार की इच्छा, कामना, वासना के वश में किया गया व्यवहार भी हमारे अपने अधीन नहीं कहा जा सकता। इन परिस्थितियों में हमारा 'अपने ऊपर' ही वश नहीं होता। व्यसन या लत (addiction) के तहत व्यवहार में भी यही स्थिति होती है। उसमें भी हमारा अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होता। उपरोक्त विश्लेषण को स्वीकार करें तो स्वतंत्रता हमें तभी मिलती है जब हमारे व्यवहार और निर्णय निम्न शर्तें पूरी करते हों:

1. हमारा अपने ऊपर नियंत्रण हो। अर्थात मन और कर्म को वश में रख सकें।
2. व्यवहार और निर्णय किसी नियम के अनुसार हों।
3. सब जगह समान परिस्थितियों में समान नियम का ही उपयोग करते हों। और,
4. वह नियम हमारा स्वयं का विवेक-सम्मत तरीके से सचेत चुनाव हो।

इनमें से एक भी शर्त पूरी न होने पर हमारा व्यवहार वासना/कामनाओं के वश में, या मतारोपण द्वारा दूसरों के वश में, या कंडीसनिंग द्वारा दूसरों के वश में, या फिर हमारी अपनी मूढ़ता में विचार-हीन होता है।

इस संदर्भ में एक संस्कृत उक्ति का बहुत हवाला दिया जाता है: सा विद्या या विमुक्तये। अपने मूल अर्थ में तो यह उक्ति बहुत भिन्न अर्थ में आई है। यह विष्णु-पुराण के एक श्लोक का हिस्सा है और वहां मुक्तिदायनी-विद्या से आशय ब्रहम-विद्या अधिक लगाया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है:

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्।। - श्रीविष्णुपुराण 1-19-41

(कर्म वही है जो बन्धनका कारण न हो और विद्या भी वही है जो मुक्ति की साधिका हो। इसके अतिरिक्त और कर्म तो परिश्रमरुप तथा अन्य विद्याएं कला-कौशलमात्र ही हैं।)

क्योंकि 'विद्या' शब्द समस्त ज्ञान और कौशलों के लिए भी प्रयोग किया जाता है, अतः हम इसे व्यापक अर्थ में भी देख सकते हैं। हालांकि वह अर्थ विष्णु-पुराण से भिन्न ही होगा। विद्या को व्यापक अर्थों में देखें तो शिक्षा का उद्देश्य किसी समाज विशेष में अध्ययन द्वारा समुचित विद्या-प्राप्ति या ज्ञान प्राप्त करना कहा जा सकता है। इस लेख के संदर्भ में वह कौनसा ज्ञान या विद्या होगी जो हमें स्वतंत्र कर्म और विचार की सामर्थ्य दे सके? निसंदेह स्वतंत्र विचार और कर्म के लिए बहुत से ज्ञान और जानकारी की जरूरत होगी। पर कौटिल्य की मानें तो इस सारे ज्ञान को प्रकाशमान तो आन्वीक्षिकी ही करती है।

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वद् आन्वीक्षिकी मता।। (अर्थशास्त्र 2.12)

(अर्थः आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं की शाश्वत प्रदीप है, सभी कार्यों का शाश्वत साधन है, और सभी धर्मों का शाश्वत आश्रय है।)

आन्वीक्षिकी का अर्थ है तर्कशास्त्र, तर्कविद्या, तार्किक दर्शन। न्याय दर्शन को भी आन्वीक्षिकी कहा गया है। न्यायदर्शन का आरंभ ही प्रमाणित ज्ञान की प्राप्ति के रास्ते से मोक्ष प्राप्ति के आश्वासन के साथ होता है। मोक्ष से आशय आत्मा

की बंधन-मुक्ति माना जाता है। पर जो आत्मा को ना मानते हों, या जिन्हें उसकी बंधन-मुक्ति की चिंता ना हो; उनके लिए बुद्धि (दिमाग, mind) की स्वतंत्रता तो आकर्षक हो ही सकती है; और स्वतंत्रता की इच्छा में मूलतः बुद्धि की मुक्ति ही होती है, आत्मा की नहीं। आन्वीक्षिकी सब विद्याओं को प्रकाशित करके इसी बौद्धिक-स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है।

विवेक (reason) आन्वीक्षिकी और नैतिक समझ दोनों को समाहित करता है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज हम विवेकशील स्वायत्तता के अर्थ में ही स्वतंत्रता की बात करते हैं। सोच-विचार कर किसी नैतिक नियम के अधीन होना ही विवेकशील स्वायत्तता दे सकता है। स्वच्छंदता और उच्छृंखलता नहीं। और इसके लिए विश्लेषण कर सकने में समर्थ तर्क-बुद्धि चाहिए। ज्ञान-मीमांसकीय मुक्ति राजनैतिक-मुक्ति की आवश्यक पूर्वशर्त है। ज्ञान-मीमांसकीय मुक्ति के बिना राजनैतिक-मुक्ति या तो स्वच्छंदता और उच्छृंखलता होगी, या फिर स्वतंत्रता के भ्रम में किसी और के हाथों की कठपुतली बनना। यदि हम अपने आस-पास कठपुतलियों की भरमार देखते हैं तो इसका मूल विश्लेषण-क्षमता की दुर्बलता में खोजना चाहिए। और यह मूलतः शिक्षा की कमजोरी का सवाल है।

मेरे विचार से हमारी विद्यालयी शिक्षा कुछ पूर्व निर्धारित विचारों और मान्यताओं को विद्यार्थी के मन में ब्रह्म-सत्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास करती है। पाठ्यपुस्तकें अधिकतर इसी विचार से लिखी गई हैं। यह सही है कि पाठ्यपुस्तकों में बार-बार सोचकर स्वयं तय करने की बात कही जाती है। पर सोचना किन्हीं मान्यताओं, चिंतन विधियों और पूर्व जानकारी पर निर्भर करता है। और ये सब बातें इस तरह से दी जाती हैं कि विद्यार्थी वही सोचे जो हम चाहते हैं। अतः विद्यार्थी उच्च शिक्षा में कुछ आधी-अधूरी समझी हुई मान्यताओं को लेकर पहुंचता है। विश्वविद्यालयों का वातावरण और अध्ययन-अध्यापन किसी बात को समझने की बजाय चलताऊ फैशन के अनुसार आलोचना पर अधिक बल देते हैं। अर्थात विश्वासों के तार्किक, वस्तुनिष्ठ और साक्ष्य-संबंधी आधारों की संभावनाओं की ठीक से पड़ताल किये बिना ही, सारे ज्ञान और सभी विश्वासों को पूरी तरह व्यक्तिपरक, सामाजिक मान्यता भर और सत्ता-संचालित घोषित कर दिया जाता है। किसी बात को ज्ञान या सिद्धांत की तरह प्रस्तुत किया जाये तो यह पूछना नहीं सिखाया जाता कि 'इसके पीछे प्रमाण या साक्ष्य क्या हैं?' बल्कि यह पूछना सिखाया जाता है कि 'यह किसका ज्ञान/सिद्धांत है? और उसके ऐसा मानने के पीछे क्या सामाजिक-अर्थिक-सत्ता विषयात्मक कारण हैं?' नतीजा यह निकलता है कि 'कौन, कब, क्या कह रहा है?' का महत्व 'किन तर्कों और साक्ष्यों के आधार पर कह रहा है?' से अधिक माना जाने लगता है। विवेक के इस निर्मूल्यन के बाद विद्यालयी शिक्षा और सामाजिक परिस्थिति के आधार पर बनाई गई मान्यताओं को पुष्ट करने वाले किसी बौद्धिक को अपना आदर्श मानकर अनुगमन करते जाना ही स्वतंत्र चिंतन मान लिया जाता है। अर्थात शिक्षा का संपूर्ण उपक्रम बौद्धिक अनुगमन का पाठ पढ़ाता है। जो यह पाठ ज्यादा देर तक और ज्यादा सफलता के साथ पढ़ता है, उसके लिए अपनी मान्यताओं पर सवाल उठाना उतना ही ज्यादा मुश्किल हो जाता है। इस समस्या से निजात पाने के लिए शिक्षा को विवेक, वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता की पड़ताल करनी होगी। जहां विवेक, वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता के आधार न मिलें, वहां मान्यताओं के बारे में यह पड़ताल करनी होगी कि उनके नतीजे किसके हित में निकलते हैं। पर हित-अहित देखने से पहले सत्य-असत्य देखना जरुरी है, क्योंकि असत्य कभी भी सब के हित में नहीं हो सकता। ◆

रोहित.

सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता*

उत्तर-कल्याणकारी राज्य में शिक्षा का अधिकार

कृष्ण कुमार

भाषान्तर : जनित जैन

सार संक्षेप

शिक्षा का अधिकार (आरटीई) कानून की घोषणा के बाद प्रारम्भिक स्कूलीकरण के सार्वजनीनता का दीर्घ-पोषित नीतिगत लक्ष्य अब पहुंच में दिखाई देता है। लेकिन सार्वजनीनता का अभिप्राय समानता हो, यह आवश्यक नहीं है। इसका परीक्षण शैक्षिक व्यवस्था में ही मौजूद कुछ मुख्य अवरोधों के संदर्भ में किया जा सकता है। इन अवरोधों की एक श्रेणी प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च-शिक्षा के मध्य कायम संरचनागत संबंधों से बनती है। दूसरी बड़ी बाधा जो आरटीई के सामने है, वह है उत्तर-कल्याणकारी राज्य की प्रकृति एवम् शिक्षा से इसकी अपेक्षाएं।

2009 में शिक्षा का अधिकार (आरटीई) कानून की घोषणा के बाद प्रारम्भिक स्कूलीकरण के सार्वजनीनता का दीर्घ-पोषित नीतिगत लक्ष्य राष्ट्र की पहुंच में दिखाई देने लगा। प्रारम्भिक शिक्षा की सार्वजनीन पहुंच के पक्ष में विद्वानों की तरफ से जो वकालत हुई, उसमें यह धारणा थी कि जब स्कूलों में सभी बच्चों का प्रवेश और ठहराव सुनिश्चित हो जाएगा तो इससे शैक्षिक समानता स्थापित होगी। लेकिन, सार्वजनीनता का अभिप्राय समानता हो, यह आवश्यक नहीं है। ऐसा क्यों है? इसे शैक्षिक व्यवस्था के दायरे के बाहर मौजूद कारणों व शिक्षा व्यवस्था में स्वयं में मौजूद अवरोधों, दोनों के संदर्भ में, परखा जा सकता है। यह पर्चा सबसे पहले दूसरी स्थिति में मौजूद रुकावटों की पड़ताल करता है। खास तौर पर यह प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च-माध्यमिक शिक्षा के बीच संरचनात्मक तौर पर कायम संबंधों का विश्लेषण करता है। शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं, जिनसे एक बच्चा गुजरता है, के बतौर पहचाने जाने वाली शब्दावली जैसे 'प्राथमिक', 'माध्यमिक' व 'उच्च' को सामान्य तौर पर इस व्यवस्था के पृथक घटकों के तौर पर देखा जाता है। रोजमर्रा के समान्य बोध से यह लोकप्रिय दृष्टिकोण जन्म लेता है कि उच्च-शिक्षा प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की गुणवत्ता पर निर्भर होती है। इन तीनों खंडों के बीच के संबंधों की, अलग से, बमुश्किल ही कभी पड़ताल की जाती है। प्रस्तुत पर्चे के माध्यम से यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च-माध्यमिक शिक्षा के बीच कायम संबंध ऐसे अवरोधों को जन्म देते हैं जिनके परिणामस्वरूप, शायद यह संभव ना हो कि सार्वजनीन स्कूलीकरण के द्वारा समानता को पोषित किया जा सके। इस विश्लेषण को प्रारम्भ करने के लिए, यह पर्चा आरटीई कानून के पाठ व प्रारम्भिक शिक्षा की मौजूदा व्यवस्था की इसमें जो

* यह आलेख जून, 2018 में MIDS (Madras Institute of Development) में प्रस्तुत Studies Working Paper No. 228 Universal Schooling and Equality: Right to Education under a Post-Welfare State के हिन्दी अनुवाद का एक अंश है। शेष अंश आगामी अंक में प्रकाशित किया जाएगा।

आलोचना है, उसे समझने की कोशिश करता है। स्कूल व उच्च-शिक्षा के बीच की अंतःक्रिया की पड़ताल करने के लिए, एक अतिव्यापी क्षेत्र के बतौर यह पर्चा शिक्षक प्रशिक्षण पर ध्यान केंद्रित करता है। यह शिक्षाशास्त्रीय उत्पादों के तकनीक-केंद्रित बाजार और सूचना व संचार प्रोद्योगिकी की बढ़ती हुई मौजूदगी व दायरे को भी शामिल करता है। व्यवस्थागत रुकावटों के इस विश्लेषण के बाद, बाहरी बाधाएं जो उत्तर-कल्याणकारी राज्य की प्रकृति में ही मौजूद हैं व शिक्षा से इसकी जो अपेक्षाएं हैं, उनका परीक्षण किया जाएगा।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

19वीं सदी के दूसरे हिस्से में प्रारम्भिक स्कूलीकरण का सार्वजनीकरण प्रारम्भ हुआ जो धीरे-धीरे दुनिया के हर कोने में फैल गया। इस परिघटना को एक आंदोलन की तरह देखा जा सकता है जिसने 'शिक्षा' व विभिन्न भाषाओं में मौजूद इसके प्रकारों के मायने बदल दिए। यह आंदोलन अब भी उभर रहा है और फैल रहा है। दक्षिण एशिया में इस आंदोलन का उभार अभी हाल ही में हुआ है और भारत में अभी भी यह बहस जारी है कि समाज और राज्य की भूमिका क्या हो (मेंडेल 2018)। इस तरह की बहसें दुनिया के दूसरे हिस्सों में पहले उभर चुकी हैं। ये आर्थिक, राजनीतिक और कानूनी मुद्दों के साथ गुंथी हुई हैं और कई मामलों में सांस्कृतिक मुद्दों के साथ भी। इस तरह की बहसों में जिम्मेदारी का प्रश्न केन्द्र में रहा है, खास तौर पर वित्तीय मामले में, क्योंकि स्कूलीकरण को सार्वजनीन करने के किसी भी प्रयास में, चाहे वह कुछ वर्षों के लिए ही हो, भारी मात्रा में धन खर्च होता है। इसे राज्य द्वारा वहन किया जाए या यह परिवार की जिम्मेदारी है, यानी बच्चे के माता-पिता की? इस तरह के सवाल से इस धारणा, और इसके पीछे मौजूद विश्वास, का पता लगता है कि स्कूली शिक्षा पूरे समाज के लिए लाभप्रद है व उस बच्चे के लिए भी जो इसे प्राप्त कर रहा है। इस तरह के लाभों को तब तक गिनाया या परिभाषित नहीं किया जा सकता जब तक कि हम इस पर नजर ना डाल लें जिसे हम आधुनिकता की मांगें कह सकते हैं, विशेष तौर पर, वे जरूरतें जो किसी अर्थव्यवस्था के 'आधुनिकीकरण' के दौर से गुजरने के दौरान पैदा होती हैं - अवधारणा जो कि आधुनिक, औद्योगिक समाज को प्रोत्साहित करने हेतु राज्य द्वारा किए जाने वाले प्रयास से जुड़ी हुई है। एक लक्ष्य के तौर पर आधुनिकता, जहां आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरकर पहुंचा जाता है, को बड़े पैमाने पर सार्वजनीन साक्षरता और लोकतंत्र से जोड़कर देखा जाता है।

यह माना जाता है कि आधुनिकीकरण के लिए साक्षर नागरिक वर्ग की दरकार होती है। वे नागरिक जो औद्योगिक अर्थव्यवस्था में काम करते हैं, एक राजनीतिक व्यवस्था की रचना करते हैं और यह माना जाता है कि इससे आधुनिक किस्म की अर्थव्यवस्था कायम रहेगी। इस राजनीतिक व्यवस्था पर प्रथागत तौर पर लोकतंत्र का लेबल लगा दिया जाता है। यह भी कि यह सार्वजनीन साक्षरता पर निर्भर होता है। इस तरह लेबल लगा देना ना केवल अपर्याप्त है बल्कि कुछ हद तक भ्रमित करने वाला भी है। लोकतंत्र व औद्योगिक अर्थव्यवस्था अवश्यम्भावी तौर पर एक-दुसरे से जुड़े हुए नहीं होते क्योंकि, कई समाजों में औद्योगिक विकास ने अपने पैर जमाये लेकिन किसी तरह की लोकतांत्रिक व्यवस्था और बुनियादी मूल्यों को पनपते हुए नहीं देखा गया (मूर 1968)। आधुनिकता भी अपने आप में एक समस्याग्रस्त शब्द बना रहा है, खास तौर पर आधुनिकीकरण के संदर्भ में, जिसे दुनिया के विभिन्न हिस्सों में ऐसी स्थितियों में भी अपनाया गया है जो कि लोकतंत्र की किसी भी परिभाषा से मेल नहीं खातीं (टौरैन 1998)।

यहां पर ऐतिहासिक संदर्भ फायदेमंद हो सकता है। प्रारम्भिक या जिसे इंग्लैंड में प्रायः बुनियादी स्कूली शिक्षा कहा जाता है, के सार्वजनीनीकरण के लिए आन्दोलन का उभार व प्रसार धीमी गति से हुआ। बच्चों को स्कूल जाने के लिए उस काम की जिम्मेदारी से मुक्त होना पड़ता था जो वे परिवार की आय में अपना योगदान देने के लिए करते थे। बाल-श्रम को प्रभावी तौर पर अवैध घोषित किए जाने में लंबा वक्त लगा, आंशिक तौर पर सामाजिक-आर्थिक बाधाओं के कारण व राजनीतक कारणों से भी। इसके वाबजूद कि संसदीय मंचों पर बहस की सक्रिय व्यवस्था मौजूद थी, सहमती बनना आसान नहीं था, ना केवल जड़ रवैये की वजह से, बल्कि खास तौर पर इस वजह से कि सस्ते

श्रम के उपलब्ध होने में पूंजीपति व उद्यमी वर्ग के निहित स्वार्थ थे। इंग्लैंड में सार्वजनीन बुनियादी शिक्षा को सहयोग करने और कानूनी जामा पहनाने का संघर्ष 20वीं सदी के प्रारम्भ तक चला और बुनियादी शिक्षा को लोकतांत्रिक बनाने का एक समानांतर संघर्ष, असमानतापूर्ण सामाजिक परिदृश्य में एक समतावादी शिक्षा सुनिश्चित करने के अर्थ में, 20वीं सदी के मध्य में द्वितीय विश्व-युद्ध के समाप्त होने के बाद तक चलता रहा (लॉसन व सिल्वर 1973)। इस लम्बे और धीमे आन्दोलन के विपरीत जापान ने मीजी शासकों के दौर में सार्वजनीन स्कूलीकरण की दिशा में तीव्र और क्रांतिकारी प्रगति की। इंग्लैंड से, राजनितिक व आर्थिक दोनों तरह से, पूरी तरह भिन्न परिस्थितियों में (कोबायशी 1976), जापान ने किसान वर्ग को अपने बच्चों को खेत से आजाद करने के लिए मजबूर करके, लगभग पूरी तरह से सार्वजनीन स्कूलीकरण के लक्ष्य को हासिल किया। जापान की कहानी अपने आप में अनूठी व विचित्र प्रतीत हो सकती है, क्योंकि लोकतंत्र व सार्वजनीन स्कूलिंग के लिए इसके संघर्ष बिलकुल भिन्न रहे हैं। हालांकि, कुछ एकरूपता जरूर नजर आ सकती है और यह तब नजर आती है जब 20वीं सदी के अलग-अलग दौर में रूस और चीन, क्यूबा और वियतनाम जैसे बिलकुल अलग समाजों की तरह ही साम्यवादी राज्यों के अधीन बच्चों पर स्कूलीकरण व वयस्कों पर साक्षरता को थोपते हुए देखा गया था। इसी तरह के और पश्चिमी यूरोपीय महाद्वीप के कुछ अन्य राष्ट्रों के अनुभव हमें यह याद दिलाते हैं कि अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण व स्कूलिंग के सार्वजनीकरण के मध्य कोई सुसंगत संबंध नहीं पाया जाता। कई मामलों में, जैसे स्कैन्डिनेवियन राष्ट्रों के मामले में, स्कूलीकरण का प्रसार औद्योगिक विकास व आधुनिक राज्य, जो कि जरूरी नहीं कि हर मामले में लोकतांत्रिक ही था, के उद्भव के बाद हुआ, ना कि इसके पहले। यह अनिश्चितता उन सभी राष्ट्रों में लगातार देखी जा रही है जहां औद्योगिक अर्थव्यवस्था में ऊंची विकास दर हासिल हुई है या जो ऐसी कोशिश कर रहे हैं।

ये सभी ऐतिहासिक सबक भारत के लिए काफी हद तक प्रासंगिक हैं और उपयोगी भी हैं जहां औद्योगिक अर्थव्यवस्था अभी नवजात अवस्था में है और कई अन्य कारकों के चलते, ग्राम्यता के विरोध के आगे खुद को टिकाने और आगे बढाने के लिए संघर्ष कर रही है। 'ग्राम्यता' शब्द का इस्तेमाल मैं जीविका की कृषि आधारित व्यवस्था व साथ ही कुछ खास तरह की सांस्कृतिक विशेषताओं के लिए करूंगा (कुमार 2014)। भारत में सार्वजनीन स्कूलीकरण की कहानी अभी हाल ही में 21वीं सदी के प्रारम्भ में शुरू हुई है। यह 2009 में आरटीई कानून के संसद में पारित होने के साथ औपचारिक तौर पर शुरू हुई। इस महत्त्वपूर्ण कानूनी अधिनियम की पृष्ठभूमि काफी लम्बी, जटिल और विचित्र है। आरटीई 2002 में संविधान में किए गए संशोधन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। मूल रूप में संविधान में विशिष्ट तौर पर शैक्षिक अधिकार का कोई जिक्र नहीं है। केवल भाग 4 में अनुच्छेद 45 दिया गया है जिसमें 'निर्देशक तत्वों' की सूची दी गयी है। अनुच्छेद 45 में एक निर्देशक तत्त्व है जो राज्यों को निर्देशित करता है कि वे 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करें। इस प्रावधान के तहत संविधान सार्वजनीन शिक्षा को राज्य की एक नैतिक जिम्मेदारी के तौर पर पहचान देता है, ना कि एक न्यायिक अधिकार की तरह, कि उसके लिए नागरिक कोई दावा पेश कर सकें। यह अधिकार, जिसे आरटीई के नाम से जाना जाता है, अनुच्छेद 21 में किए गए संशोधन को प्रतिबिम्बित करता है, जो कि संविधान के भाग 3 में मौजूद है तथा जहां नागरिकों के मूल व न्यायिक अधिकारों को रखा गया है। अनुच्छेद 21 में नागरिकों के जीवन के अधिकार को शामिल किया गया है। इसे अब संशोधित करके इसमें एक अतिरिक्त धारा जोड़ दी गई है जो कहती हैः 'राज्य 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का, ऐसी रीति से प्रावधान करेगा, जिसे राज्य कानूनी तौर पर उचित पाए।' इस धारा के जोड़े जाने से पहले अनुच्छेद 21 में केवल जीवन का अधिकार शामिल था। कई वर्षों के कानूनी प्रयासों व अवधारणात्मक व्याख्याओं के बाद कहीं जाकर यह हुआ कि अनुच्छेद 21 इस शक्ल में आ सका कि जीने का अधिकार गरिमा के साथ जीने का अधिकार बना। आरटीई नागरिकों के जीवन के इसी पहलू को ठोस स्वरुप प्रदान करता है। इसी वजह से हम कह सकते हैं कि आरटीई शिक्षा को व्यक्तिगत जीवन में गरिमा या सम्मान के संसाधन के तौर पर देखता है। यह उन सभी उपायों का उल्लेख करता है जिन्हें राज्य, बाल्यवस्था के दौरान सभी के लिए 8 वर्ष की अनिवार्य स्कूली शिक्षा सुनिश्चित करने हेतु, लागू करने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य है।

शिक्षा, गरिमा व बराबरी

स्कूल वह जगह है जहां नागरिक वर्ग बाल्यवस्था के दौरान गरिमा के इस मूल तत्व को महसूस करेगा। इस कानूनी पृष्ठभूमि की रौशनी में समझा जा सकता है कि आरटीई शिक्षा को महज 6 वर्ष की उम्र में स्कूल में प्रवेश देने से कहीं अधिक मानता है। आरटीई में जिन 8 वर्षों को शामिल किया गया है, उनमें यह अपेक्षा है कि वे सीखने के ऐसे अनुभव प्रदान करेंगे जिनसे भावी जीवन मूल्यवान बनेगा यानि, इसमें जीवन को गरिमामय ढंग से आगे बढाने की आशा छुपी होगी। शैक्षिक अनुभव कितने सूक्ष्म ढंग से किसी नागरिक के भावी जीवन में इस खास पहलू को पोषित कर सकते हैं, इसके संदर्भ में आरटीई के विभिन्न खण्डों में पर्याप्त मात्रा में संकेत मौजूद हैं। ये संकेत उन तमाम चीजों को शामिल करते हैं जिन्हें हम शैक्षिक सुधार की एक नीति या रूपरेखा कह सकते हैं और इस अर्थ में आरटीई केवल एक अधिकार नहीं बल्कि, इससे कहीं अधिक है। और यह भी बताता है कि इस अधिकार को कैसे सौंपा जाना है।

आरटीई की ये खास विशेषता उस चुनौती का जवाब दे सकती है जो बच्चो को प्रदान किए जाने वाले किसी भी अधिकार के समक्ष पेश आती है - यानि, अधिकार के अमल में लाये जाने को सुनिश्चित करने हेतु बच्चों का अपने वयस्क संरक्षकों पर निर्भर रहना। यह निर्भरता इस स्वाभाविक धारणा का परिणाम है कि बच्चे अपने अधिकार की मांग स्वयं पेश नहीं कर सकते। आरटीई ऐसे कई उपायों का उल्लेख करता है जिनके माध्यम से स्कूल में 8 वर्ष तक रहने के अधिकार को स्कूली अनुभव में महसूस किया जाना है। इसमें कई ऐसे उपाय सुझाए गए हैं जिन्हें कारगर स्थितियों व क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सांस्थानिक संसाधनों के निर्माण हेतु अपनाया जाना लाजमी है। इसके अलावा, कई ऐसे भी उपबन्ध हैं जिन्हें वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की आलोचना के तौर पर देखा जा सकता है।

आइये इनमें से कुछ पर नजर डालते हैं। इन्हें दो मोटी श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में हम व्यवस्था द्वारा लागू किए जाने वाले मानदंडों को रख सकते हैं। इसमें शिक्षक-छात्र अनुपात, आरटीई के अंतर्गत स्तर या ग्रेड, शिक्षा के अलावा अन्य कार्यों में शिक्षक की संलग्नता और शिक्षकों की भर्ती शामिल है। ये सभी आरटीई द्वारा व्यवस्था की स्पष्ट आलोचना से पैदा होते हैं। उदहारण के लिए, आरटीई में शामिल आयु सीमा को दो अलग-अलग चरणों में रखा गया है, 'प्राथमिक' व 'उच्च-प्राथमिक' जिन्हें मिलाकर 'प्रारम्भिक' शिक्षा के 8 वर्षों की समयावधी का निर्माण होता है। प्राथमिक चरण पहले पांच वर्षों का है व उच्च-प्राथमिक शेष तीन वर्षों का। आरटीई द्वारा प्रतिपादित इस विभाजन के अनुरूप प्रारम्भिक स्कूलीकरण को ढालने व दिशा देने का कार्य पहले से ही कई ऐसे राज्यों में शुरू हो चुका है, जहां सात साल का चक्र था, चार साल प्राथमिक व तीन साल उच्च-प्राथमिक चरण। कुछ राज्यों में उच्च-प्राथमिक की पाठ्यचर्या माध्यमिक बोर्ड द्वारा तैयार की जाती है। इस व्यवस्था को बदलना होगा ताकि आरटीई की शब्दावली से संगती स्थापित की जा सके, जहां प्राथमिक व उच्च-प्राथमिक चरणों को संयुक्त रूप से 'प्रारम्भिक' चरण में रखा गया है।

इसी तरह, एक शिक्षक पर 30 बच्चों का जो अनिवार्य अनुपात पूरे प्रारम्भिक चरण के लिए रखा गया है, इसमें भी इस बात का विरोध झलकता है कि जरूरत से कम शिक्षकों द्वारा बड़ी-बड़ी कक्षाओं को संभाला जाए, जैसा कि भारत के कई हिस्सों में सामान्य तौर पर देखने को मिलता है। आरटीई इससे आगे जाता है और साफ तौर पर कहता है कि उच्च-प्राथमिक स्तर पर आवश्यक तौर पर विषयवार शिक्षक होने चाहिए। आरटीई में दी गयी अनुसूची प्रत्येक स्कूल में कला व शिल्प के शिक्षण और शारीरिक शिक्षा के लिए अंशकालिक शिक्षकों की भी मांग करती है। शिक्षणशास्त्रीय मानदंडों व मानकों के संबंध में अपनी दृष्टि को सुदृढ़ बनाने हेतु आरटीई शारीरिक दंड देने पर तुरंत प्रभाव से रोक लगाने की मांग करता है, जो कि सभी तरह के भारतीय स्कूलों में सामान्य तौर पर दिखाई देता है। उतने ही महत्त्वपूर्ण तरीके से आरटीई बोर्ड द्वारा ली जाने वाली परीक्षा पर भी रोक लगाता है। वर्तमान में कई राज्य कक्षा 5 व 8 के अंत में बोर्ड परीक्षा आयोजित करते हैं। और कुछ राज्यों में कक्षा 1 से ही प्रति वर्ष एक वार्षिक केंद्रीयकृत परीक्षा ली जाती है। इन परीक्षाओं के माध्यम से बच्चों को 'पास' और 'फेल' की श्रेणियों में बांट दिया

जाता है और जो फेल हैं उन्हें उसी कक्षा में दोबारा पढ़ना होता है। वार्षिक परीक्षाओं के स्थान पर आरटीई सतत एवं समग्र मूल्यांकन (सीसीई) व्यवस्था को अनिवार्य तौर पर लागू करने के निर्देश देता है, जिसमें बच्चों की अकादमिक प्रगति और विकास के सभी पहलुओं का सतत आकलन किया जाता है।

दूसरी श्रेणी में हम आरटीई द्वारा अनुसूचित की गई शिक्षणशास्त्रीय गतिविधियों को रख सकते हैं जिन्हें शिक्षकों द्वारा क्रियान्वित किया जाना है। खंड 5 में, लगभग पांच ऐसे उपबंध हैं जो अच्छी गुणवत्ता की प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने हेतु गतिविधियों की सूची प्रस्तुत करते हैं। ये बाल-केन्द्रित शैक्षिक गतिविधियां हैं जिनमें वे अनुभव व कार्य शामिल हैं जो बच्चे के समग्र विकास में योगदान देते हैं। सीसीई, जिसका कि पहले जिक्र किया गया है, भी इस सूची का हिस्सा है। खंड 5 का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि कक्षा में जाति, वर्ग या लिंग के आधार पर कोई भेदभाव ना किया जाए। यह निर्देश भारत में स्कूली शिक्षा के संदर्भ में किए गये विभिन्न अध्ययनों में दिखाई देने वाली एक सामान्य सच्चाई को साफ तौर पर अस्वीकार करता है और इसकी आलोचना करता है (e.g. Nambissan 2009)। भेदभावपूर्ण शैक्षिक क्रियाकलाप को तुरंत प्रभाव से प्रतिबंधित कर आरटीई राज्य व प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने वाले अन्य निकायों पर समतावादी आचार-व्यवहार का निर्माण करने व कायम रखने की जिम्मेदारी सौंप देता है।

समानता के लिए चिंता एक दूसरे उपबन्ध में काफी तीव्रता से जाहिर होती है जहां आरटीई यह प्रावधान करता है कि आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों (ईडब्ल्यूएस) से आने वाले बच्चों को शुल्क वसूल करने वाले निजी तौर पर संचालित स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण दिया जाये। यह क्रांतिकारी प्रावधान विशिष्ट तौर पर सकल नामांकन पर केन्द्रित नहीं है और ना ही ऐसी कोई धारणा है कि समतापूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा सभी बच्चों की पहुंच में आ जाएगी यदि निजी क्षेत्र के स्कूल भी अपना योगदान दें। आरटीई के लक्ष्य इससे कहीं आगे के हैं, वे इस मायने में कि यह भारतीय समाज और राज्य के लिए एक नैतिक उद्देश्य भी प्रदान करना चाहता है। आरटीई कुछ जटिल कारकों को भी रेखांकित करता है जिसमें इसकी अपनी सफलता के लिए सहायक परिस्थितियों को शामिल किया गया है। जैसा कि पहले जिक्र किया गया है, आरटीई संशोधित (अनुच्छेद 21 में, 86वें संशोधन के माध्यम से) जीवन के अधिकार को पुनर्परिभाषित करने की संविधान की मांग को संबोधित करता है ताकि जिस जीवन की रक्षा यह करे वह गरिमा के साथ जीने में समर्थ हो। विभिन्न प्रावधान, जो आरटीई के तहत बच्चों को एक सकारात्मक व सक्रिय स्कूली अनुभव प्रदान करने हेतु किए गए हैं - सभी बच्चों के लिए, जिसमें वे भी शामिल हैं जिनकी पृष्ठभूमि या लिंग उन्हें भेदभाव या बेदखली का शिकार बना सकते हैं , मानवीय व सामाजिक तौर पर रूपान्तरकारी शिक्षा के अवयवों की तरह देखे जा सकते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि आरटीई कल्याणकारी राज्य के विचार से जन्म लेता है और राज्य सत्ता को एक ऐसे मजबूत निकाय की तरह देखता है जो सामाजिक यथार्थ में दखल करेगा, जो कि परम्पराओं व अन्य सांस्कृतिक तथ्यों से मिलकर बना है और उन्हीं की मदद से कायम है। यह एक समर्थकारी राज्य की धारणा से काफी भिन्न है जो कि सीमित प्रशासनिक भूमिका में होता है, जहां बाजार को काम करने की छूट देने व फलने-फूलने की अपेक्षा की जाती है।

आरटीई की विरासत व शुरूआती अनुभव

आरटीई की अपनी ऐतिहासिक विरासत उस ऐतिहासिक क्षण के विपरीत है जिसमें इसे कानूनी स्वरुप दिया गया। यह विरासत भारत के औपनिवेशिक राज्य में स्वाधीन राष्ट्रीयता अर्जित करने के पूरे संघर्ष को प्रतिबिंबित करती है। भ्रूण रूप में, आरटीई सबसे पहले 1911 में इम्पीरियल विधान सभा में पेश किए गए एक विधेयक के तौर पर प्रकट हुआ जब गोपाल कृष्ण गोखले ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और मुफ्त करने हेतु एक विधेयक सामने रखा (कुमार 2014)। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए विधेयक में केवल लड़कों को शामिल किया गया था। लड़कियों के लिए जल्दी शादी व मातृत्व एक किस्म के मानदंड थे और पहला बाल विवाह रोक अधिनियम अभी 18 वर्ष दूर था। लेकिन लड़कों के लिए भी, गोखले का विधेयक ताकतवर जमींदारों की जमीन पर बाल-श्रम करने से बचाने के लिए एक साहसिक व क्रांतिकारी कदम था। ऐसे ही एक व्यक्ति, दरभंगा (बिहार) के राजा, जो कि विधान सभा के सदस्य

थे, ने गोखले के विधेयक का काफी सटीक तौर पर यह पूछते हुए पुरजोर विरोध किया कि यदि 11 वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों को स्कूल जाने पर मजबूर किया जाएगा तो उनके खेतों में कौन काम करेगा और पैदावार की देखभाल कौन करेगा।

यह दृष्टिकोण मोटे तौर पर, ना कि चुनिंदा तौर पर, बाल-श्रम के विरोध का आधार बना रहा। इस अधूरे कानूनी त्रिकोण - जिसमें बाल विवाह पर रोक लगाने में प्रयासरत कानून, अन्य लोग जो बाल-श्रम को रोकने पर ध्यान दे रहे थे, और मुफ्त प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रांतीय कानून शामिल थे- ने यह सुनिश्चित किया कि बच्चों की स्कूली शिक्षा तक पहुंच एक अनिच्छापूर्ण ढंग से ही सही लेकिन राज्य की जिम्मेदारी बनी रहे। 20वीं सदी के अंतिम दशक में वीनर (1991) ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रति राज्य की उपेक्षा को स्पष्ट करने के अपने प्रयासों के दौरान शिक्षित मध्यम वर्ग में मौजूद जड़ रवैये को महसूस किया। राजनितिक विमर्श हमेशा एक 'वित्तीय व्याख्या' की मांग करता है, संविधान निर्माण के दौरान 'राज्य की क्षमता' शब्द का जो लगातार इस्तेमाल किया गया है, इससे यही स्पष्ट होता है। नायक (1975) के अनुसार संविधान का अनुच्छेद 45 (86वें संशोधन से पहले) भारत के बच्चों से एक 'वायदा' करता है। नायक द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीनता की वकालत करने के पीछे यह धारणा थी कि राज्य को एक व्यावहारिक योजना की आवश्यकता थी ताकि वह अपनी उस नैतिक जिम्मेदारी को पूरी करने में हो रही हिचकिचाहट को दूर कर सके जो उसने स्वीकार तो कर ली थी, यह जानते हुए भी कि इसे पूरा करना उसकी वित्तीय व प्रशासनिक क्षमता के बाहर था।

जब आरटीई कानून लागू हुआ और उसे अमल में लाया गया, ऐसा महसूस हुआ कि प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के कार्य से सार्वजनिक निधि पर जो बोझ पड़ रहा है उससे राज्य की वित्तीय क्षमता के समक्ष एक मुश्किल खड़ी हो गयी है। इसकी जड़ें राष्ट्रीय फ्लैगशिप कार्यक्रम 'सर्व शिक्षा अभियान' (एसएसए) द्वारा प्राप्त किए गए नतीजों में हैं। अपने पूर्ववर्ती कार्यक्रम, 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डीपीईपी), की तरह ही एसएसए भी केंद्र से राज्य को काफी उदारतापूर्ण दिए गए वित्त से पोषित था जबकि केंद्र के स्वयं के संसाधन अंतर्राष्ट्रीय दानदाता संस्थाओं के योगदान से फलफूल रहे थे। अपने पहले पांच वर्षों (2002-07) के दौरान, एसएसए ने भरपूर वित्तीय संसाधनों से युक्त माहौल का निर्माण किया जिससे प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था में कई नए विचारों की नींव पड़ी। इसमें उप-जिला स्तर पर शिक्षक सहयोग व्यवस्था, स्कूली भवनों का तीव्र गति से निर्माण, शिक्षकों को शिक्षणशास्त्रीय संसाधनों की उपलब्धता इत्यादि शामिल थे। नामांकन व ठहराव दोनों में तेज गति से वृद्धि हुई और हुआ ये कि शिक्षा की सार्वजनीनता सांस्थानिक हाथों की पहुंच में आ गई जो कि इससे पहले लगातार उच्च-ड्रॉप आउट दर का सामना कर रहे थे, खास तौर पर उत्तर भारत के अधिक आबादी वाले राज्यों में।

लेकिन, ये जो समृद्धता का भान एसएसए ने पैदा किया था, यह आरटीई के अमल में आने के बाद बहुत समय तक नहीं रहा। केंद्र ने जो उदारता दिखाई थी वह वित्तीय सहयोग एक परियोजना के स्वरुप में था जिसमें पुराने व्यवस्थागत ढांचों को नजरअंदाज कर दिया गया था, जैसे शिक्षा निदेशालय। परियोजना के रूप में केंद्र से सीधे वित्तीय सहायता से नामांकन में वृद्धि और ठहराव का एक फौरी लक्ष्य पूरा हुआ। इससे ये उम्मीद बढ़ गई कि राज्य एसएसए के एक परियोजना के तौर पर पूर्ण हो जाने के बाद भी अपने स्वयं के संसाधनों से प्रारम्भिक शिक्षा के लिए वित्तीय पोषण जारी रखेगा और व्यवस्थागत सुधार भी लाएगा। कुछ हद तक, दक्षिण भारतीय राज्य वित्तीय संसाधनों में बढ़त कायम रख पाए, हालांकि बिना कोई समग्र व्यवस्थागत सुधार लाये; लेकिन उत्तर भारतीय राज्यों ने पूरी तरह से अपनी अक्षमता के संकेत देने शुरू कर दिए। आरटीई के अमल में आने के कुछ ही समय में एसएसए एक सुखद याद बनकर रह गया। एक कानून के बतौर, आरटीई जोश खोता चला गया, खास तौर पर उन पहलुओं में जहां यह जड़ हो चुकी व्यवस्थागत व शिक्षणशास्त्रीय क्रियाकलापों को रूपांतरित करना चाहता था, उनमें दरार पैदा करना चाहता था।

आरटीई में मौजूद विभिन्न प्रावधानों के खिलाफ लोगों ने कोर्ट का दरवाजा खटखटाया। सबसे पहले जिन पहलुओं पर निशाना साधा गया उनमें से एक था, आर्थिक रूप से कमजोर अभिभावकों (ईडब्ल्यूएस) के बच्चों के लिए आरक्षण का प्रावधान। इसमें कोई सफलता हासिल नहीं हुई। सुप्रीम कोर्ट ने प्रावधान को जारी रखा लेकिन ऐसे स्कूलों को इससे बाहर रखने पर सहमती दी जिन्हें कोई वित्तीय सहायता प्राप्त नहीं हो रही है या जिन्हें धार्मिक या भाषाई अल्पसंख्यकों द्वारा चलाया जा रहा है। अगला आक्रमण आरटीई की इस कोशिश पर किया गया जिसके अंतर्गत वार्षिक परीक्षाओं और पास-फेल की व्यवस्था पर रोक लगाई गयी है और केन्द्रीय मानव संसाधन विकास (एचआरडी) मंत्रालय भी वार्षिक परीक्षा व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना चाहती थी। शिक्षा के लिए केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड (सीएबीई) द्वारा नियुक्त समिति ने सुझाव दिया कि राज्यों को अपनी मूल्यांकन प्रणाली तय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। इस निर्णय को किसी संशोधन के माध्यम से आरटीई में शामिल किए जाने का अभी इंतजार है। यदि यह निर्णय लागू हो जाता है तो यह केवल नामांकन बढाने के उद्देश्य पर ही नहीं बल्कि, व्यवस्था में सुधार के आरटीई के व्यापक उद्देश्यों पर एक बड़ी चोट होगी।

आरटीई का विरोध

अब तक यह बात साफ हो चुकी है कि शिक्षा के अधिकार को मुख्य तौर पर पहुंच में इजाफा करके सार्वजनीनता हासिल के एक उपकरण के तौर पर देखा गया है। शैक्षिक अनुभवों की गुणवत्ता में समानता लाने की इसकी क्षमता को विरोध का सामना करना पड़ रहा है। इसके अमल में लाए हुए अभी एक दशक भी नहीं हुआ है और गंभीर अड़चनें पैदा हो गईं हैं, जो खास तौर पर इसके समतावादी शक्ति पर चोट पहुंचा रहीं हैं। ये अड़चनें अलग-अलग तरह की हैं : कुछ शैक्षिक व्यवस्था के भीतर ही मौजूद हैं जबकि दूसरी अन्य वृहद परिदृश्य में व राज्य के नीतिगत संस्कारों में। आरटीई के सामने मौजूद बाधाओं के बारे में हम चार वर्गों में चर्चा करेंगे। पहला, स्कूली शिक्षा व्यवस्था में, दूसरा, स्कूल और उच्च-शिक्षा के रिश्ते में, तीसरी शिक्षक प्रशिक्षण में और चौथी उत्तर-कल्याणकारी राज्य की आर्थिक व सामाजिक नीति के प्रारूप में। उस टकराव से शुरू करते हैं जिसका सामना आरटीई को व्यवस्था के भीतर करना पड़ता है। यह प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च शिक्षा के रिश्ते में दिखाई देता है। आरटीई की चर्चा के केंद्र में प्राथमिक व उच्च-प्राथमिक शिक्षा रही है और यह इन चरणों को शिक्षा के अन्य चरणों से अलग करके देखता है। इस प्रवृति की वजह से हम उस असर को नहीं देख पाते जो माध्यमिक व उच्च शिक्षा प्राथमिक शिक्षा पर डालते हैं। ये उच्च चरण ना केवल वित्तीय संसाधनों के उस हिस्से को प्रभावित करते हैं जो प्राथमिक शिक्षा के लिए उपलब्ध हैं बल्कि, इसकी पाठ्यर्या व शिक्षकों द्वारा तय की गई शिक्षणशास्त्रीय रणनीतियों को भी। ये सूक्ष्म ढंग के प्रभाव विश्लेषण का हिस्सा तब ही बन पाते हैं जबकि हम शिक्षा व्यवस्था को, विभिन्न चरणों के बीच होने वाली अंतःक्रिया पर ध्यान देते हुए, इसकी संपूर्णता में देखते हैं। इस अंतःक्रिया में आवश्यक तौर पर उच्च चरण हावी रहते हैं जो अर्थव्यवस्था से प्राथमिक शिक्षा की तुलना ज्यादा सीधे तौर पर जुड़े हुए हैं। इस जुड़ाव के आधार पर, उच्च शिक्षा को राष्ट्रीय व सामाजिक विकास के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस समझ में प्राथमिक शिक्षा, मुख्य तौर पर उच्च शिक्षा तक पहुंचने के लिए एक मार्ग है और इसकी अपनी परिस्थितियां, विशेषताएं व मांगें नजरअंदाज हो जाती हैं।

भारत की माध्यमिक शिक्षा में दो सार्वजनिक परीक्षाओं को चिन्हित किया जा सकता है। पहली कक्षा 10 के अंत में ली जाती है और दूसरी कक्षा 12 के अंत में। दोनों परीक्षाएं एक बोर्ड द्वारा आयोजित की जाती हैं - एक निकाय जो यह प्रमाणित करने के लिए अधिकृत है कि बच्चे ने परीक्षा पास कर ली है। कक्षा 10 की परीक्षा के बाद इस निकाय द्वारा जो प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाता है उसमें बच्चे की जन्म तिथि भी होती है। कक्षा 10 या 'मैट्रिक' परीक्षा, जैसा इसे औपनिवेशिक दिनों में पारंपरिक तौर पर कहा जाता था, का मूल्य कानूनी तौर पर मानी जाने वाली उम्र प्रमाण-पत्र के तौर पर कहीं अधिक है, ना कि अकादमिक प्रदर्शन के प्रमाण के तौर पर। इस दूसरी भूमिका में कक्षा 10 का बोर्ड प्रमाण-पत्र कक्षा 11 और 12 में प्रवेश पाने के लिए एक लाईसेंस की तरह है। कक्षा 11 व 12 मिलकर

'उच्च-माध्यमिक' चरण का निर्माण करते हैं जिसके अंत में दूसरी बोर्ड परीक्षा आती है। इस दूसरी परीक्षा में बच्चे का प्रदर्शन स्नातक महाविद्यालय में प्रवेश का आधार बनता है। इन दोनों परीक्षाओं में मुख्य फर्क यह है कि दूसरी परीक्षा बच्चे द्वारा चुने गए विषयों तक सीमित रहती है जबकि, इससे पहले की परीक्षा स्कूल के सभी विषयों के लिए होती है। इस द्वि-परीक्षा प्रणाली को नीतिगत भाषा में 10+2 प्रणाली कहा जाता है, कोठारी आयोग (1964-66) (कोठारी 1966) द्वारा दिया गया नाम। ऐतिहासिक तौर पर कक्षा 10 की परीक्षा एक छलनी का काम करती रही है जिसका मुख्य उदेश्य था एक बड़ी संख्या में बच्चों को कॉलेज शिक्षा या नौकरी की ओर जाने से रोकना। ऐसा उन्हें 'फेल' घोषित करके किया जाता था। 19वीं सदी के बाद के हिस्से से शुरू होकर, लम्बे समय तक मैट्रिक परीक्षा में सफलता कई अलग-अलग तरह की नौकरियों, जिसमें ऑफिस की नौकरियां भी शामिल थीं, के लिए योग्यता का काम करती रही। परीक्षार्थियों को 'फेल' और 'पास' की श्रेणियों में बांटकर, मैट्रिक परीक्षा के नतीजे ऊर्ध्वगामी गतिशीलता या आगे बढ़ने के लिए नियामक का काम करते रहे, शिक्षा व्यवस्था के भीतर भी और नौकरियों के बाजार में भी।

इस नियामक की भूमिका में मार्किंग व्यवस्था ने मदद की जो कि पहले से ही मौजूद थी। मूल्यांकनकर्ता परीक्षार्थियों द्वारा दिए गए प्रश्नों के जवाबों पर इस आधार पर अंक देता था कि वे कितने 'सही' हैं। सटीकता का आकलन ज्यादातर विषयों में एक अधिकृत पाठ के संदर्भ में किया जाता था। यह भारतीय उप-महाद्वीप के संदर्भ में कोई अनूठी प्रक्रिया नहीं थी, सटीकता व गुणवत्ता का निर्धारण औपनिवेशिक समाजों के मामले में प्रत्येक विषय के लिए निर्धारित पाठ्यपुस्तकों के आधार पर ही किया जाता था। निर्धारित पाठ्यपुस्तकें कुछ मुख्य शिक्षणशास्त्रीय व प्रशासनिक प्रकार्यों को अंजाम देती थीं, जैसे यह शिक्षक को नियंत्रित करती थीं, आधिकारिक तौर पर माने जाने वाले ज्ञान को प्रस्तुत करके, और छात्र को नियंत्रित करती थीं, यह संकेत देकर कि उनका जवाब सार्वजनिक परीक्षा में कैसे जांचा जाएगा जहां छात्र व मूल्यांकनकर्ता दोनों की पहचान जाहिराना तौर पर गुप्त रखी जाती थी ताकि वस्तुनिष्ठता और अंकन निष्पक्षता सुनिश्चित की जा सके (कुमार 1988; ऑल्टबैक 1988)।

बोर्ड परीक्षा व्यवस्था की ये विशेषताएं आज भी कायम हैं। वे यह सुनिश्चित करते हैं कि परीक्षार्थियों के बीच एक बराबरी का आभास हो और बहुत सारे बच्चे जिनकी आर्थिक व सामाजिक पृष्ठभूमि बिल्कुल भिन्न है, उन्हें लगे कि सफलता अर्जित करने के लिए उनके पास समान अवसर उपलब्ध हैं। बोर्ड परीक्षाएं सफलता की संभावनाओं में समानता लाने के लिए कड़ी एकरूपता थोपते हैं, इस लिहाज से कि वे उनके लिए तय प्रश्नों का जवाब कैसे देंगे और मूल्यांकनकर्ता उनके जवाबों का अंकन कैसे करेंगे। यह परीक्षा केन्द्रित एकरूपता स्कूली व्यवस्था में किया गया एक संरचनात्मक प्रावधान है। इस एकरूपता से जो मुख्य प्रतीकात्मक प्रकार्य संभव होता है वह है, सामाजिक संरचना में मौजूद स्तरीकरण के संदर्भ में पूर्ण निष्पक्षता का संकेत देना।

यदि हम आरटीई की खास विशेषताओं पर ध्यान दें तो हम पाएंगे कि ये सभी शिक्षक की इस क्षमता की ओर इशारा करती हैं कि वह व्यक्तिगत भिन्नताओं को समझते हुए बच्चों की वैयक्तिकता को पहचान सके, उनसे जुड़ सके और इन भिन्नताओं को कक्षा में समृद्ध व समतावादी शिक्षणशास्त्रीय तौर-तरीके विकसित करने हेतु एक माध्यम की तरह देख सके। आरटीई का खण्ड 5 बाल-केन्द्रित, अनुभव-आधारित शिक्षण रणनीतियों पर प्रकाश डालता है। आरटीई शिक्षक वह है जो यह जानता है कि प्रत्येक बच्चे की प्रगति का उसकी अपनी विकास की दिशा के संदर्भ में मूल्यांकन कैसे किया जाए, ना कि केवल प्रत्येक बच्चे को दूसरे से तुलना करने के पुराने तरीके से। इसके अलावा, आरटीई पुरानी वार्षिक परीक्षा प्रणाली, जो 'पास' व 'फेल' करने के लिए बनाई गई थी, को बदलकर सीसीई को लाना चाहता है जहां प्रत्येक बच्चा अपनी गति के अनुसार कार्य कर सके। आरटीई द्वारा वैयक्तिकता को निखारने के प्रस्तुत तरीके और माध्यमिक स्तर की बोर्ड परीक्षा में एक मौलिक संघर्ष है। माध्यमिक स्तर की बोर्ड परीक्षा परीक्षा के लिए तैयारी को जांचने के लिए शर्तों की एकरूपता को थोपती है। तैयारी को जांचने के लिए जो ज्ञान का स्रोत है, वह है पाठ्यपुस्तकें। आरटीई का दृष्टिकोण ज्ञान को इस तरह बांधने के काफी खिलाफ है। कोई आश्चर्य नहीं कि आरटीई स्पष्ट तौर पर

अकादमिक निर्णयों के लिए एक मार्गदर्शक दस्तावेज के तौर पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) (एनसीईआरटी 2005) का हवाला देता है। यह दस्तावेज उन पांच बुनियादी सिद्धांतों का जिक्र करता है जिन पर यह आधारित है, जिनमें तीसरा है कि 'अधिगम को पाठ्यपुस्तक के परे जाना होगा'।

यह व अन्य सभी विचार और प्रक्रियाएं जिनका एनसीएफ-2005 द्वारा अनुमोदन किया गया है, वे पाठ्यचर्या, शिक्षणशास्त्र व मूल्यांकन में उन्हीं सुधारों को इंगित करती हैं, जिनकी ओर आरटीई भी इशारा करता है। प्रारम्भिक कक्षा शिक्षण व क्रियाकलापों में आरटीई द्वारा की गई अुनसंशाओं में प्रचलित स्कूली प्रक्रियाओं व नीतियों का एक स्पष्ट नकार नजर आता है। ये प्रचलित प्रक्रियाएं प्राथमिक स्तर पर अधिगम की एकरूपता और व्यवहार में फौजी अनुशासन पर जोर देती हैं। एकरूपता को पाठ्यपुस्तक केन्द्रित शिक्षण के माध्यम से हासिल किया जाता है व अनुशासन को परीक्षा प्रणाली के माध्यम से। इसलिए हर बच्चा शुरू से ही बोर्ड परीक्षा का सामना करने के लिए तैयार किया जाता है। बच्चे की वैयक्तिकता को प्राथमिक चरण में ही दबा दिया जाता है। वे माध्यमिक कक्षाओं की तरफ एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हुए आगे बढ़ते हैं। और अंत में जब कक्षा 10 का परिणाम आता है तो जो परीक्षा में शामिल हुए थे उनमें से बड़ा हिस्सा 'फेल' की तालिका में दिखाई देता है और केवल बचे हुए ही अगले स्तर की ओर बढ़ पाते हैं, जिसके अंत में उन्हें एक और बोर्ड परीक्षा का सामना करना होगा और जिसके नतीजे ये तय करेंगे कि कॉलेज में प्रवेश पाने की उनकी संभावना कितनी है और उन्हें किस तरह का कॉलेज मिलेगा, यदि वे 'पास' होते हैं।

कक्षा 10 की बोर्ड परीक्षा में फेल होने की दर काफी ऊंची रही है। जैसा कि नवानी (2018) अपने विश्लेषण में दिखाती हैं, फेल होने की दर औपनिवेशक दौर से ही लगातार ऊंची बनी रही है। ये 'पास-फेल' की प्रक्रिया विस्तार के वाबजूद शिक्षा व्यवस्था के बुनियादी चरित्र को बनाए रखती है। पिछले सालों में आरटीई के सीसीई के प्रावधान को बदलकर पुरानी वार्षिक परीक्षा वाली 'पास-फेल' व्यवस्था को वापस लाने की मांग बढ़ती जा रही है। जो यह मांग कर रहे हैं, जिनमें कई राज्य सरकारें भी शामिल हैं, जाहिराना तौर पर आरटीई को महज नामांकन में सुधार लाने हेतु एक कानून की तरह देखते हैं, ना कि एक ऐसे कानून की तरह जो व्यवस्था को अधिक समतावादी बनाने हेतु प्रारम्भिक शिक्षा में सुधार लाएगा। आरटीई के सार्वजनीनता के वायदे और अधिक बराबरी की बुनियाद डालने की इसकी काबिलियत के बीच पहली चीज ने ज्यादा लोकप्रियता अर्जित की है। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com

सरकारी स्कूल : व्यवस्था की जड़ता

और शिक्षकों की उदासीन अभिवृत्ति

ऋषभ कुमार मिश्र

सरकारी स्कूलों की व्यथा-कथा शिक्षा के अध्येताओं का प्रिय विषय है। इस तरह के अध्ययनों और आख्यानों में प्रायः किसी न किसी तत्व को खोजकर ऐसा स्थापित किया जाता है कि मानो वह विटामिन 'ए' हो जिसकी कमी से शिक्षा व्यवस्था को रतौंधी हो गई हो। काबिलेगौर है कि इस विटामिन 'ए' को गुणवत्ता या अच्छी शिक्षा की संज्ञा देते हैं और अंततः राज्य के जिम्मे इस व्यवस्था के संचालन और मूल्यांकन का दायित्व सौंप देते हैं। राज्य बड़े करीने से व्यापक स्तर पर अपनी भूमिका के निर्वहन की तैयारी करता है। उसे प्रचारित करता है। ढांचागत संरचना का विकास, शिक्षकों की बहाली, वजीफा, मूल्यांकन, दायित्व निर्वहन न करने वालों को सजा देने आदि का काम करके राज्य सिद्ध करता है कि शिक्षा की चिंता उसकी प्राथमिकता सूची में है। यह रूख आलोचना या सराहना का माध्यम बनता है। राज्य के कर्मचारी की भूमिका में शिक्षक भी अपने दायित्व निर्वहन के पक्ष में पूरे आंकड़े देते हैं। उनके आख्यान में राज्य द्वारा सुविधाओं का न मिलना, समुदाय से सहयोग का अभाव, सेवा शर्तों में भेदभाव आदि का उल्लेख होता है। बावजूद इसके वे भारतीय समाज के चिरपरिचित रूपक 'गुरू' के भार से खुद को लदा हुआ मानते हैं और अंततः सिद्ध करते हैं कि दी गई परिस्थितियों में सर्वोत्तम निर्णय और समस्या समाधान द्वारा वे सार्थक प्रयास कर रहे हैं। जब इस चित्र को अलग-अलग भागीदारों और हित चिंतकों की निगाह से देखते हैं कि तो कोई न कोई कमजोर कड़ी मिल जाती है जिसे अच्छी शिक्षा के अभाव के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है। इसे मजबूत करने के लिए सुझावों का लंबा पुलिंदा तैयार किया जा सकता है। असल सवाल जो छूट जाता है वह यह है कि क्या अच्छी शिक्षा की केवल मात्रात्मक और यांत्रिक शर्तें- एक चुस्त-दुरूस्त व्यवस्था, प्रशिक्षित शिक्षक, बच्चों की संतुलित संख्या, उन्हें पढ़ाई-लिखाई के जरूरी साधन, नियमित कक्षाएं आदि क्या शिक्षा के उद्देश्यों को पूर्ण कर रहे हैं? यहां रेखांकित करना आवश्यक है कि शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना करना और उन्हें कार्यरूप देना दो अलग-अलग धाराएं हैं। कोई भी शिक्षित वयस्क शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए नागरिक, मानव निर्माण, चरित्र, जीविका, सामर्थ्य, कुशलता आदि का उल्लेख करता है लेकिन इनके लिए हम क्या करते हैं? कैसे करते हैं? जिसके साथ करते हैं उनके सोचने और करने के तरीकों को शिक्षा कैसे प्रभावित करती है? स्कूल विद्यार्थियों के अनुभवों, दृष्टियों और रहने के ढंग को एक अलग और अपरिचित सांचे में ढालता है या उन्हें विचारपूर्वक स्थानीय संदर्भों के साथ सहअस्तित्व और शास्वत विकास की ओर ले जाता है जैसे सवाल अधिक मौजूं हैं। इनका आकलन समय के वृहद् पैमाने पर होता है। इस कारण हम इन्हें अल्पकाल में नहीं देख पाते हैं लेकिन शिक्षित वयस्कों की समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था में भूमिकाओं को देखते हुए विश्वास करते हैं कि शिक्षा की व्यवस्था अपने उद्देश्यों को साकार करती है। इन

उद्देश्यों के 'साकार' होने का एक महत्वपूर्ण सवाल है कि कैसे शिक्षा व्यवस्था अपने भागीदारों के रोजमर्रा के जीवन को जीवंत करती है? कैसे उन्हें बौद्धिक बनाने की प्रक्रिया में उनकी स्वाभाविक सरसता को बनाए रखती है? इस लेख में कुछ सरकारी विद्यालयों के अवलोकन के आधार पर इस समस्या को समझने की कोशिश की गई हैं।

हाल ही में एक कस्बाई इलाके के कुछ सरकारी स्कूलों के अवलोकनों का मौका मिला। लेखक पिछले तीन महीनों में सप्ताह में एक दिन सेवापूर्व शिक्षकों की मेंटरिंग के लिए इन स्कूलों में जाया करता था। इस दौरान तीन स्कूलों में अवलोकन किया गया। कुल अवलोकन दिवसों की संख्या 20 रही है। स्कूल के कार्यदिवसों में वहां उपस्थित रहकर मैंने स्कूल की दिनचर्या, कक्षा के भीतर और बाहर विद्यार्थियों और शिक्षकों की अन्तःक्रिया, शिक्षकों की आपसी अन्तःक्रिया आदि का अवलोकन किया। इन स्कूलों में अच्छी शिक्षा के लिए राज्य के सभी दाय उपस्थित थे। स्कूल का भवन, कक्षाएं, खेल का मैदान, उद्यान सब व्यवस्थित थे। शिक्षकों की भी नियुक्ति थी। उनकी उपस्थिति, कक्षा शिक्षण और उनके द्वारा किए जा रहे कार्यों का दस्तावेजीकरण भी चाक-चौबंद था। कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या भी अधिक नहीं थी। किसी भी सामान्य स्कूल की तरह इन स्कूलों में सब कुछ हो रहा था। प्रार्थना, घंटियां, दोपहर का खाना, खेल की कक्षाएं सब कुछ था। लेकिन एक स्कूल को जीवंत बनाने वाला रोमांच या उत्साह नदारद था। पूरे विद्यालय में एकरसता फैली हुयी थी। घंटी बजती थी, कक्षाएं होती थी। कक्षाओं में शिक्षकों की उपस्थिति शत-प्रतिशत रहती थी। विद्यार्थी भी लगभग उपस्थित रहते थे। वार्षिक, छमाही और मासिक मूल्यांकन रचनात्मक और योगात्मक दोनों होते थे। कक्षा की दीवारें सेवापूर्व शिक्षकों द्वारा बनाए पोस्टरों से सजी थीं। कक्षा शिक्षण में मौन को अनुशासन का पैमाना माना गया था। जिन शिक्षिकों के हाव-भाव और हनक से बच्चे खौफ खाते थे उन्हें ही लंच और खेल की घंटी में अनुशासन का जिम्मा सौंपा गया था। इस सारे माहौल के बीच जैसे ही कक्षाओं के बीच अंतराल होता या अवकाश होता तो लगता कि स्कूल जीवंत हो गए हैं। इन स्कूलों को देखकर लगता है कि यहां अनुबंधन और समझौते का ऐसा वातावरण है जहां बच्चे स्कूल जा रहे हैं शिक्षक पढ़ा रहे हैं लेकिन इस बात पर कोई ध्यान नहीं है कि उनके बीच आपसी रिश्ता क्या है? वे क्या सीख रहे हैं? क्यों सीख रहे हैं? सीखने और परीक्षा के अलावा बच्चों, अध्यापकों और स्कूलों के बीच रिश्ता क्या है? इस माहौल में शिक्षक, बच्चे और कर्मचारी क्या कर रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? कैसे किसी एक का निर्णय दूसरे को प्रभावित कर रहा है? इससे सभी अपरिचित थे। ऐसे हालात में भी पढ़ाई हो रही है लेकिन उसमें उत्सुकता, जिज्ञासा, सवाल आदि का अभाव था। ऐसे स्कूलों में बच्चों का होना घड़ी की सूइयों को देखकर समय बिताना बन गया था। इस माहौल से किसी को भी असंतुष्टि नहीं थी। शिक्षक संतुष्ट थे कि 'सब कुछ ठीक चल रहा है'। शिक्षकगण 'ठीक न होने' से अभिप्राय विद्यार्थियों के फेल होने, शिक्षकों के बीच आपसी रिश्ते खराब होने, प्रिंसिपल और शिक्षकों के बीच संबंध ठीक न होने के रूप में बताते हैं। विद्यार्थी भी संतुष्ट हैं। वे बातचीत के दौरान साझा करते हैं कि 'यहां पढ़ाई का टेंशन नहीं है'। 'टेंशन होने' के बारे में विद्यार्थी बताते हैं क्लास वर्क, होम वर्क का बोझ, कक्षा में पिटाई, स्कूल में उनके व्यवहार के बारे में माता-पिता से बातचीत जैसी परिस्थितियां टेंशन पैदा करती है। इनके अभाव में वे स्कूल की सराहना करते हैं। इन स्कूलों के अभिभावक ज्यादातर किसान, मजदूर, सफाई कर्मी, छोटे व्यापारी हैं। वे इस बात से संतुष्ट हैं कि उनके बच्चे रोज स्कूल जा रहे हैं और कुछ न कुछ सीख रहे हैं। इन सब 'संतुष्टियों' ने स्कूल को जड़ बना दिया है। इस व्यवस्था में जो जहां है वह वहां गति कर रहा है लेकिन परस्पर असंबद्धता के कारण उनकी गति सृजन-स्वर नहीं पैदा कर रही है। यहां का सुर बेसुरा है जिसकी जिम्मेदारी लेने को कोई तैयार नहीं है।

शिक्षा के शोध कार्यों को देखें तो ऐसे वातावरण को 'सरकारी' स्कूल से जोड़ दिया गया है। 'सरकारी स्कूल' मुहावरे को इसी अर्थ में असफलता का पर्याय बना दिया गया है। जबकि सच्चाई यह है कि इन स्कूलों में वे बच्चे और उनके

परिवार असफल घोषित किए जा रहे हैं जो सरकारी स्कूलों में जाते हैं। यदि सरकारी स्कूलों के अध्यापकों का मूल्यांकन व्यक्तिगत योग्यताओं जैसे- अकादमिक योग्यता, संप्रेषण कुशलता, सूचना प्रौद्योगिकी का ज्ञान, समसामयिक घटनाओं की जानकारी आदि के आधार पर हो तो वे उत्कृष्ट होगें। जैसे ही आप उनसे सवाल पूछेगें कि ऐसे प्रतिभाशाली और योग्य अध्यापकों के समूह ने विद्यालय के लिए क्या किया? सब अपने-अपने कैरियर और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के आधार पर अपनी सफलताएं गिना देगें। लेकिन उनकी सफलताएं क्या बच्चों की जिंदगी में कोई बदलाव ला रही हैं? उन्हें आगे बढ़ने के लिए अभिप्रेरित कर रही हैं? नहीं। ऐसे विद्यालयों के अधिकांश शिक्षक 'नौकरी' कर रहे हैं। इस विश्वास के साथ वे सरकारी कार्यालय में काम कर सकते हैं लेकिन जीवंत बच्चों से अन्तःक्रिया नहीं। इस तर्क के समर्थन में सबंधित स्कूल के स्टॉफरूम का चित्र पाठकों के सामने रखना चाहता हूं। संबंधित विद्यालय के स्टॉफ रूम में शिक्षक आपस में कोई बातचीत नहीं कर रहे थे। अधिकांश अपने-अपने फोन में व्यस्त थे। कुछ नाश्ता कर रहे थे। बीच-बीच में व्यक्तिगत हंसी-मजाक आदि हो रहा था। पुरुष शिक्षक कॉरीडोर और आसपास चहल कदमी कर रहे थे। कुछ अपनी डायरी में न्यूनतम शब्दों में कार्ययोजना लिखकर एक 'काम' पूरा कर रहे थे। इस समय में केवल आपसी बातचीत से कुछ नया करने की योजना बना सकते हैं। अपने बच्चों, विषय और साथी की समस्या का निराकरण कर सकते हैं लेकिन क्यों करें? यह उनकी प्राथमिकता सूची में नहीं है। इसी अध्यापक कक्ष में गांधी, टैगोर और नेहरू का फोटो फ्रेम भी लगा हुआ था। ये सभी बच्चों की क्षमता, सर्जनात्मकता और उनके 'होने' की संभावनाओं की बात करते हैं लेकिन उनके फ्रेम खुद की दशा पर रो रहे थे। गांधी की कर्मभूमि के अनुयायी उनके ही चित्र से धूल हटाने का भी श्रम नहीं करते। हां यह जरूर है कि स्कूल की दीवार पर गांधी दिवस के अवसर पर हुए श्रमदान की तस्वीर चस्पा थी। असल में स्कूल के अधिकांश हितचिंतकों में श्रम के विभाजन और वेतन के रूप में उसका मूल्य चुका देने की आदत घर कर गई है। इसी कारण भवन, कक्षा, उद्यान और खेल का मैदान स्कूल के एक सफाई कर्मी के हवाले है जो खुद सरकारी कर्मचारी है। इस जैसी समस्याओं के लिए वित्त और अनुदान का रोना एक लोकप्रिय बहाना है। शिक्षक रूपी सर्जक मस्तिष्क क्या इतना विचार नहीं कर सकते कि वे और उनके बच्चे कक्षा को व्यवस्थित रखें? नोटिस बोर्ड को रचानात्मकता की प्रस्तुति का माध्यम बनाए? यदि इसके लिए 'बड़े और सुंदर' बोर्ड नहीं हैं तो इसका क्या विकल्प नहीं हो सकता? कैसे कक्षा में प्रकाश की समुचित व्यवस्था हो? क्या उद्यान और मैदान का कक्षा-शिक्षण के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं? आजकल हर नवाचार के लिए आई.सी.टी. का नाम ले लेते हैं। यह भूल जाते हैं स्थानीय उपलब्ध संसाधनों से आपसी सहयोग से सस्ते और टिकाऊ नवाचार हो सकते हैं।

इस माहौल में सेवापूर्व अध्यापकों का प्रशिक्षण भी चल रहा था। उनकी फाइलों पर लिखा था- शिक्षण अनुभव कार्यक्रम। विद्यालय की उक्त परिस्थिति और फाइल का शीर्षक भविष्य कथन के लिए पर्याप्त थे। जब उनके अनुभव में ऐसा ही नीरस विद्यालय होगा, वे अपनी भावी भूमिका को इसी विद्यालय के शिक्षकों के सापेक्ष देखेगें तो उनके लिए भी शिक्षण अनुबंधन बन जाएगा। जब इन सेवापूर्व शिक्षकों से बातचीत की तो विद्यालय के नियमित शिक्षकों जैसे ही वे अपनी तत्परता के कागजी प्रमाण देने को आतुर हो उठे। उनमें यह बताने की प्रवृत्ति थी कि उन्होंने फलां संख्या में पाठ योजना पूरी कर ली है। पाठ्यक्रम में निर्धारित प्रोजेक्ट कर रहे हैं। बीच-बीच में वे स्कूल के बच्चों की 'बदमाशियां' गिनाने से नहीं चूकते। वस्तुतः वे बताना चाहत थे कि ये तथाकथित बदमाशियां ही उनके शिक्षण को बाधित करती है। किसी ने भी स्वाभाविक प्रेरणावश किसी नए अनुभव पर चर्चा नहीं की। खुद के द्वारा किए गए प्रयासों का उल्लेख नहीं किया। हां जब उनसे इनके बारे में पूछा गया तो भविष्य में ऐसा करने का आश्वासन जरूर दिया। इन सेवापूर्व शिक्षकों के सामने दो तरह के मॉडल थे। पहले, वे अध्यापक जो अपनी नौकरी के उत्तरार्द्ध में थे। वे अधिक उदासीन थे क्योंकि उन्हें 'आगे' की राह नहीं दिखाई पड़ रही है। दूसरे, जो अभी सेवा के शुरुआती वर्षों में हैं उनके 'आगे' की राह में वर्तमान कक्षा, विद्यार्थी और स्कूल की भूमिका नहीं है। ये दोनों ही मॉडल स्कूल के साथ

उदासीन और तटस्थ रिश्ता निभा रहे थे। इन मॉडलों के बीच भविष्य के शिक्षकों का 'वर्तमान' बन रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि यह वर्तमान कैसा भविष्य गढ़ेगा? यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि स्कूल में शिक्षक की भूमिका देखने के लिए उनकी अभिप्रेरणाओं, उद्देश्यों और उनके अपने से भिन्न समुदाय के प्रति नज़रिए को अलग नहीं कर सकते हैं। शिक्षण के व्यवहारवादी या निर्माणवादी तरीके से अधिक महत्वपूर्ण शिक्षकों की वह दृष्टि है जहां वे अपने काम को, दायित्व को, स्कूल को, बच्चे से अपने संबंध को देखते हैं। उनकी यह दृष्टि बच्चों की पृष्ठभूमि में भेद करती है। जरा कल्पना कीजिए यदि इन्हीं विद्यालयों में कुछ प्रभावशाली परिवारों के बच्चे आएं, उनके अभिभावक स्कूल में हस्तक्षेप करने की हैसियत रखते हों तो भी क्या यह नीरसता और उदासीनता रहती? स्कूल के संचालन के लिए शिक्षकों को अंतिम दायित्व सौंपना भी ठीक नहीं है। हमें यह भी सवाल पूछना होगा कि स्कूल को चलाने वाले, उसके बारे में निर्णय लेने वाले वयस्कों का समूह किसके पक्ष में क्या निर्णय ले रहा है? और क्यों ले रहा है? यदि यह निर्णय चयनात्मक और सुविधाजनक है तो निश्चित रूप से शिक्षा स्वार्थपूर्ति कर रही है। इससे अधिक कुछ भी नहीं।

इस स्कूल के मुख्य भवन के पीछे उग आई जंगली झाड़ियां और पीले फूल की लताएं बच्चों को स्कूल की तुलना में अधिक आकर्षित करती हैं। कई बार लगता है कि बच्चे भी उन्हीं जंगली झाड़ियों और लताओं की तरह अपने जीवन में बढ़ रहे हैं। वे मुख्यधारा की चमक के पीछे हैं। या कह लें कि वे मुख्यधारा के चिराग तले के अंधेरे हैं। उनके जीवन की खुशियां हैं अरमान हैं लेकिन वे हमारी शिक्षा, विकास और रोजगार के पैमाने पर कहीं नहीं हैं। इस स्कूल के बच्चे वैसे ही हैं जैसे किसी प्रतिष्ठित निजी स्कूल के बच्चे हो सकते हैं। वे सवाल करते हैं, जवाब देते हैं। दिए गए काम को मन लगाकर करते हैं। पहल करते हैं। लेकिन इसके लिए उन्हें जिस 'स्कैफोल्डिंग' की जरूरत है वह नदारद है। ऐसे आलोचनात्मक स्वर में लिखते हुए मैं एक शिक्षक के रूप में खुद की भूमिका पर विचार करता हूं तो अपने-आपको कमोबेश इन्हीं शिक्षकों के साथ खड़ा पाता हूं। कई बार मैं खुद व्यवस्था के नाम पर अपने विद्यार्थियों से कहता हूं कि 'मैं क्या करूं?' मुझे लगता हैं कि मुझे इसके बदले कहना चाहिए कि 'हम' क्या कर सकते हैं? यदि शिक्षक व्यवस्था के सामने घुटने टेकने वाला बन जाएगा तो पूरा समाज पंगु बन जाएगा। दूसरे को कटघरे में खड़ा करने के साथ मैं खुद को भी कटघरे में खड़ा करना चाहता हूं। मैं अपनी भूमिकाओं में उन्हीं सीमाओं को पहचानता हूं जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। यद्यपि नेतृत्व और प्रशासन महत्वपूर्ण है लेकिन हम सभी शिक्षकों को ध्यान रखना चाहिए कि कक्षा ऐसा स्थान है जहां सुवासित वातायन में नयापन और रोमांच होना चाहिए। इसके लिए हमारे विद्यार्थी ही सबसे बड़े संसाधन हैं। हमारे लिए प्रमोशन, वेतन और पुरस्कार के साथ बच्चों की मुस्कान, उनकी बातचीत से होने वाली संतुष्टि, उन्हें अभिप्रेरित करने का आनंद भी महत्वपूर्ण है।

इस अनुभव और अवलोकन ने कुछ सवाल पैदा किए जो मेरी चेतना को कुरेद रहे हैं। हम लगातार सुनते रहे हैं कि शिक्षकों पर काम का बोझ है। यह छवि निराधार नहीं है लेकिन जिन संस्थानों का मैंने अवलोकन किया वहां जान पड़ा कि काम के बोझ होने और हर काम को बोझ मान लेने में फर्क होता है। काम को बोझ मान लेने की आदत व्यक्तिगत उदासीनता से उपजती है। यह उदासीनता बाह्य कारकों की अपेक्षा आंतरिक अभिप्रेरणा के अभाव को दर्शाती है। अपनी कक्षा को पढ़ाना, वह भी तब जब विद्यार्थी शिक्षक अनुपात अनुकूल हो, से ज्यादा सुखकर क्या हो सकता है। शिक्षा जगत में लगातार पैरवी की जाती है कि नियम, अनुशासन और दायित्व निर्वहन के लिए बाहर की एजेंसी और अधिकारी की भूमिका न्यूनतम होनी चाहिए। इससे किसी की भी असहमति नहीं है। लेकिन इस मांग के साथ व्यवस्था को उत्तरदायी बनाए रखने की शर्त आत्मानुशासन है। जब इसके बिना बाहरी हस्तक्षेप को आप न्यूनतम करते हैं तो व्यवस्था की सरसता और रोमांच वैसे ही समाप्त हो जाता है जैसे इस स्कूल में देखा गया। इसके अलावा आप राज्य को भी मौका देते हैं कि वह आपका नियंता बने। जैसे ही राज्य नियंता बनता है वैसे ही

प्रतिरोध और बचाव के नाम पर खानापूर्ति की प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। इसका प्रमाण संबंधित स्कूल हैं। यहां भी शिक्षकों की डायरी है, गतिविधि पंजिका है, स्कूल के प्रति उत्तरदायी सिद्ध करने वाली रिपोर्टें हैं लेकिन उनमें शब्दों और मुहावरों का संकलन मात्र है। ये दस्तावेज विद्यालयी जीवन की समय तालिका बताते हैं लेकिन उस दौरान कैसे जीवन प्रकट हुआ इस पर मौन हैं। क्या इस जीवन का बच्चों और शिक्षकों के 'होने' से कोई संबंध है? ध्यान रखिए शिक्षक का 'होना', विद्यार्थियों के होने से अलग नहीं है। प्रायः होने का सतही अर्थ सत्ता अर्जित करना है। सत्ता पद और पूंजी में निहित है। इसके अलावा सत्ता का एक और रूप है-अपनी पहचान का आभा मंडल बनाना। इसमें शामिल है। आप किन लोगों के साथ उठते-बैठते हैं? आप कितनों को जानते हैं? कितने आपको जानते हैं? इस दृष्टि से भी विद्यालयी व्यवस्था के भागीदार वयस्क चाहे वे शिक्षक हों या कर्मचारी अपने विद्यार्थियों को 'बच्चा' होने के कारण गैर बराबर और महत्वहीन मानते हैं। यदि बच्चों की पृष्ठभूमि और शिक्षक की पृष्ठभूमि में भिन्नता हो तो यह अंतर और गहरा हो जाता है। यह अंतर भी स्कूल की नीरसता में योगदान करता है।

जन शिक्षा या लोक शिक्षा केवल औपचारिकता नहीं है। वह दान नहीं है। वह हम सबका दायित्व है। यह दायित्व इस नाते नहीं है कि हम सरकारी नौकर है बल्कि इसलिए है कि हम अपने समाज के जिम्मेदार नागरिक हैं। हम खुद ऐसे 'व्यक्ति' हैं जो जीवन को सर्जन, रोमांच और अभिप्रेरणा के अर्थ में जीता है न कि 'अर्थ' के आर्थिक अर्थ में। हमने व्यावसायिक संतुष्टि का ऐसा पैमाना खोजा है जो सीढ़ीनुमा है। हम सभी 'प्रोफेशनल' अपने परिवेश से इस अर्थ को ग्रहण करते हैं और व्यवहार में उतार लेते हैं कि इस सीढ़ी पर ऊपर चढ़ते रहना ही नियति है। इसका खामियाजा जिस पायदान पर खड़े हैं उसे उठाना पड़ता है क्योंकि ऊपर की चढ़ाई में नीचे वाला पायदान उपेक्षित रह जाता है। इसी कारण स्कूल में सक्रियता, कक्षा शिक्षण, बच्चों के साथ भागीदारी उपेक्षित है। अपने विषय के साथ प्रयोग, शिक्षण में नवाचार आदि कार्यशाला के मुहावरे मात्र बनते जा रहे हैं। वस्तुतः हम सभी हित चिंतकों की जिम्मेदारी है कि अपनी भूमिका को जीवंत बनाने के लिए स्कूल को अपनाएं। अपनी संकल्पशक्ति, आंतरिक संतुष्टि, आत्मबल, रचने, जानने और करने की इच्छा से व्यवस्था के बंधनों से मुक्ति का रास्ता खोजें। ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

एकहि साधे सब सधे*

राजेश कुमार

वर्तमान स्कूली शिक्षा व्यवस्था में शिक्षकों, अभिभावकों और परिणामस्वरूप छात्रों का पूरा ध्यान याद करने पर है। याद करने के इस आग्रह को स्कूली शिक्षा, उच्चतर शिक्षा, तकनीकी शिक्षा और नौकरी के लिए होने वाली प्रतियोगिता परीक्षाओं के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। दूसरी तरफ शिक्षाविद लगातार यह चिंता व्यक्त करते हैं कि बच्चे स्कूलों में सिर्फ याद कर रहे हैं। वो चीजों को न तो समझ रहे हैं और न ही सीख पा रहे हैं। उनके सोचने की गुणवत्ता पर भी सवाल उठाये जा रहे हैं - 'आजकल के बच्चे ठीक से नहीं सोच पाते हैं'। चाहे वह याद करने का आग्रह हो या नहीं सोच-समझ पाने या नहीं सीख पाने की चिंता इन सब में यह मान्यता दिखाई देती है कि ये सारी अलग-अलग मानसिक प्रक्रियाएं हैं। इनमें से कुछ हो सकती हैं और कुछ नहीं भी हो सकती। यह आलेख इस मान्यता पर सवाल खड़े करता है और साथ-ही-साथ एक वैकल्पिक परिकल्पना प्रस्तुत करता है जिसमें सोचने को मनुष्य के जीवन में होने वाली एक सामान्य प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। प्रस्तुत परिकल्पना यह भी दावा करती है कि याद करना, समझना और सीखना सोचने के ही अलग-अलग रूप हैं और यदि हम सोचने को सुनिश्चित कर पाएं तो याद करना, समझना और सीखना स्वयं हो जाएगा।

भाग-1

सोचने की बात करते हुए अलग-अलग लोग अलग-अलग मतलब निकालते हैं। इसका अनुमान सोचने की बात करते हुए इस्तेमाल किये जाने वाले शब्दों से लगाया जा सकता है - चिंतन करना, विचार करना, विश्वास करना, अनुमान करना, जानना, मानना, याद कर पाना, कल्पना करना, योजना बनाना, विश्लेषण करना, ध्यान देना, मत बनाना, आदि-आदि। इन शब्दों का अगर वर्गीकरण करने का प्रयास करें तो एक तरीके से इन्हें अतीत, वर्तमान और भविष्य में क्रमशः हो चुकी, हो रही या होने वाली क्रियाओं के तीन वर्गों में देखा जा सकता है। इनका एक अन्य तरह का वर्गीकरण इन क्रियाओं के करने/होने में लगने वाले समय के आधार पर किया जा सकता है - इनमें से कुछ जल्दी की जाती हैं, जबकि कुछ के करने में समय लगता है। इन क्रियाओं के होने/करने में लगने वाले समय के अंतर के बावजूद इनमें एक समानता है - ये सारी इंसान के द्वारा की जाने वाली मानसिक क्रियाएं हैं। इन क्रियाओं के होने या करने में मष्तिष्क (Brain) और दिमाग (Mind) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लेकिन जैसे भोजन को पचाने में पाचन तंत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद हम यह नहीं कहते कि *'हमारा पाचन तंत्र खाना पचा रहा है'*, वैसे ही इन क्रियाओं के होने में मष्तिष्क और दिमाग की महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद हम यह नहीं कहते कि *'हमारा मष्तिष्क या दिमाग सोच रहा है'*।

---

* यह लेख का पहला भाग है। दूसरे भाग के लिए अगला अंक देखें।

सोचने से जुड़े हुए इतने सारे शब्दों का होना सोचने के भिन्न-भिन्न रूपों के होने की ओर इशारा करता प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि अमूमन हम सोचने के इतने सारे रूपों में से कोई एक कर रहे होते हैं, परन्तु तय नहीं कर पाने कारण कह देते हैं कि 'मैं सोच रहा हूं'। वैसे ही जैसे किसी वस्तु के बारे में तय नहीं कर पाने की परिस्थिति में हम 'चीज' शब्द का प्रयोग करते हैं - *'वह चीज जो टेबल पर पड़ी है'*। सामान्यतः *'मैं अभी सोच रहा हूं'* जैसा वाक्य हम तभी इस्तेमाल करते हैं जब हम प्रत्यक्ष रूप से कोई अन्य कार्य जैसे बागवानी, दौड़ना, खाना बनाना, गीत सुनना आदि नहीं कर रहे होते हैं। इससे ऐसा लग सकता है कि सोचना और कोई अन्य काम करना साथ-साथ संभव नहीं हैं। ऊपर उदाहरण के लिए दिए गए कार्य करते हुए यदि कोई हमसे पूछे तो हम यही कहते हैं कि बागवानी कर रहे हैं, दौड़ रहे हैं, खाना खा रहे हैं, आदि। हम कभी नहीं कहेंगे कि सोच रहे हैं और बागवानी कर रहे हैं या सोच रहे हैं और दौड़ रहे हैं, या सोच रहे हैं और खाना खा रहे हैं; जबकि इन सभी कार्यों के करने में सोचना निहित है। विशेष परिस्थिति में यदि कोई मुझसे कहे कि *'तुम जो कार्य कर रहे हो उसके बारे में तुम्हें सोचना चाहिए'*, तो इसका यह अर्थ कतई नहीं होता है कि उस कार्य को करते हुए मैं सोच नहीं रहा हूं। शायद वह व्यक्ति मेरा ध्यान उस कार्य के महत्त्व, उसकी गंभीरता या इसी तरह की किसी अन्य बात की तरफ आकृष्ट करना चाहता है।

परन्तु जब हम सोचने के सिवाय कोई अन्य कार्य नहीं कर रहे होते हैं तो आखिर कर क्या रहे होते हैं? ऐसा कहा जा सकता है उस समय हम अतीत में हो चुके या वर्तमान में हो रहे या भविष्य में होने वाले किसी कार्य की सजग रूप से एक सजीव मानसिक तस्वीर बनाकर उसको देख रहे होते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि हम अनजाने में उन सभी कार्यों को मानसिक रूप से उतनी ही बारीकी से कर रहे होते हैं जैसा कि हुआ होगा, हो रहा होगा या होने वाला होगा। किसी कार्य को करना और उसके बारे में सोचना दो अलग-अलग कार्य हैं, परन्तु इनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कोई भी कार्य बिना सोचे नहीं किया जाता और किसी कार्य को करने की कल्पना किये बगैर उसके बारे में सोचा नहीं जा सकता। दोनों में फर्क सिर्फ इतना है कि पहले को कोई दूसरा व्यक्ति देख सकता है जबकि दूसरे को नहीं। दूसरी तरह का सोचना दरअसल अतीत, वर्तमान या भविष्य में किसी कार्य को करने की कल्पना करना कहा जा सकता है - हालांकि सामान्यतः कल्पना सिर्फ भविष्य की ही की जाती है, अतीत को तो हम याद करते हैं और वर्तमान के बारे में सोचते हैं। शब्दों के इस फर्क को यदि थोड़ी देर के लिए नजरअंदाज कर दें, तो याद करना, सोचना और कल्पना करना एक-सी मानसिक क्रियाएं लगने लगती हैं।

सोचने के बारे में सोचना

सोचने के बारे में ऊपर की बातचीत से तो ऐसा लगता है कि सोचना एक जटिल कार्य है जिसको समझना और भी जटिल कार्य है। परन्तु ऐसा है नहीं। मनोवैज्ञानिकों या दार्शनिकों के लिए संभव है यह काफी जटिल हो, परन्तु शिक्षकों और शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े लोगों के लिए नहीं। हमारे लिए तो सोचना एक सामान्य मानवीय कर्म है। मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक सोचने का अर्थ और उसकी प्रक्रिया को कर्ता से काटकर समझना चाहते हैं। उनके प्रश्न कुछ इस प्रकार के होते हैं - क्या सोचने के भिन्न-भिन्न रूपों, जिनके लिए अलग-अलग शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है, उनके पीछे मष्तिष्क और दिमाग में भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं होती हैं? क्या यह अलग-अलग प्रकार से सोचना एक कौशल है जिसे शिक्षक द्वारा छात्रों को सिखाया जा सकता है? क्या अधिकतर लोग ठीक से सोचने में असफल होते हैं? आदि-आदि।

स्कूलों या स्कूली व्यवस्था और समाज में बच्चों के सोचने की गुणवत्ता पर काफी प्रश्न उठाये जाते हैं। उदाहरण के लिए एक छोटा बच्चा परीक्षा में कम अंक आने पर उत्तर पुस्तिका में पिता की जगह स्वयं हस्ताक्षर कर स्कूल में लौटा देता है। पकड़े जाने पर उससे पूछा जाता कि 'तुमने ऐसा करने के पहले सोचा नहीं था?' बच्चा कहता है कि 'उसने सोचकर ही यह कार्य किया था। यदि मैं उत्तर पुस्तिका पिताजी के पास ले जाता तो मुझे डांट पड़ती या पिटाई भी होती। इससे बचने के लिए मैंने ऐसा किया था।' ऐसे में यह माना जाता है कि उसके सोचने की गुणवत्ता कम है, या उसके सोचने में कुछ परेशानी है। - अभिभावक/माता-पिता शिकायत करते हैं कि उनके बच्चों को उतनी अच्छी तरह

से नहीं पढ़ाया जा रहा है जितनी अच्छी तरह से उन्हें पढ़ाया गया था। शायद वो चाहते हैं कि स्कूलों में कुछ ऐसा शिक्षण होना चाहिए जिससे उनके बच्चे बेहतर तरीके से सोचने लगें। मनोवैज्ञानिकों ने तो सोचने के जटिल सिद्धांत और सोचना सिखाने के तरीके प्रस्तावित कर दिए हैं। उनके विचार से अलग-अलग तरह से सोचने में अलग-अलग मानसिक प्रक्रिया होती है, और उसको सीखने-सिखाने के अलग-अलग तरीके होते हैं - उदाहरण के लिए Discovery learning, Inquiry learning, Critical thinking, Lateral thinking, Higher order thinking/learning इत्यादि।

सोचने के भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रयोग सामान्य बात है। यह भाषा की समस्या या कमजोरी की बजाय उसकी समृद्धि को दर्शाता है। सोचने की एक सर्वमान्य परिभाषा गढ़ने की बजाय हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि किस संदर्भ में सोचने का प्रयोग किस अर्थ में हो रहा है। परिभाषाएं अर्थ संकुचन का कारण बन सकती हैं। सटीक होने की कोशिश में परिभाषाएं स्पष्टता की बलि चढ़ा देती हैं (Popper, 1976)। ऐसे में यदि हम अलग-अलग तरह के सोचने में मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं (psychological processes) तथा शब्दार्थ संबंधी (semantic) फर्क को अलग-अलग देखने की कोशिश करें तो शायद मदद मिलेगी। दूसरे शब्दों में कोई 'व्यक्ति' क्या कर रहा है और उसका 'दिमाग' क्या कर रहा है इसको अलग-अलग देखने की कोशिश करें - हालांकि इन दोनों को अलग कर पाना इतना सरल भी नहीं है। अब यह कहा जा सकता है कि जो कुछ भी दिमाग कर रहा है उसे सोचना कहते हैं, फिर चाहे वह आदतन (ऐच्छिक क्रियाएं जो जटिल न हों लम्बे समय के प्रयास के बाद आदत का हिस्सा बन जाती हैं और ऐसा लगता है कि इसमें सोचने की जरुरत नहीं होती। लेकिन इन क्रियाओं के करने में शुरुआती दौर में तो सोचना शामिल था। अब वो सोचना हमारे लिए इतना सहज हो गया है कि हम उसके प्रति सजग नहीं होते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सोच नहीं रहे, जैसे हम सांस लेने के प्रति सजग नहीं होते लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम सांस नहीं ले रहे।) कर रहा हो, अनजाने में कर रहा हो, या सचेत रूप से कर रहा हो।

'*यह बिना सोचे-समझे कुछ भी करता रहता है।*' 'यह काम थोड़ा खतरनाक है, शुरू करने से पहले सोच लेना।' 'सोचने की जरुरत नहीं है, तुम तो ऐसे ही करते जाओ और सफल हो जाओगे।' आमतौर पर बच्चों और कभी-कभी बड़ों के बारे में कही जाने वाली इन बातों से लगता है कि हम कभी तो सोचते हैं और कभी नहीं। या हमारा दिमाग कभी तो सोचता है और कभी नहीं। परन्तु सच तो यह है कि हमारा दिमाग हर समय सोचता ही रहता है। शायद ऐसा कोई समय ढूढ़ना मुश्किल होगा जब इंसानी दिमाग वर्गीकरण करना, अनुमान लगाना, समस्याओं के समाधान ढूंढ़ना, निर्णय लेना जैसे कार्य नहीं कर रहा हो जिनमें सोचना निहित है। सोचने की स्थिति तो हमारे दिमाग की सामान्य स्थिति है। शिक्षा के क्षेत्र में दिमाग को एक सूचना प्रक्रम यंत्र (information processing device) की तरह देखने की वजह से सीखने का मतलब सूचना प्राप्त करना, याद करने का मतलब हासिल की गई सूचना की पुनः प्राप्ति करना, और सोचने का मतलब उस सूचना की मदद से कोई काम कर पाना या निकाल पाना समझा जाने लगा है। परन्तु सूचनाओं को प्राप्त करना, याद रखना और उनका इस्तेमाल करना हमारे दिमाग का मुख्य कार्य नहीं है; यह तो दिमाग के मुख्य कार्य का उपोत्पाद (by product) है। यदि कोई उद्दमी अपने मुख्य उत्पाद पर ध्यान देने की बजाय अपना सारा ध्यान उपोत्पाद पर देने लगे तो उसके उद्दयम के भविष्य की आप कल्पना कर सकते हैं। छात्रों, अभिभावकों, शिक्षकों और वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की परेशानी की जड़ में यह एक मुख्य बात लगती है। दिमाग के मुख्य कार्य - अनुभव ग्रहण करना - की बजाय हमारा सारा जोर उपोत्पाद - सूचना प्राप्त करना, उसको याद रख पाना और उसका इस्तेमाल कर पाना - पर केन्द्रित हो गया है। ऐसे में वही परिणाम सामने आ रहे हैं जिनकी आशंका हो सकती है - अनुभवों के अभाव में सूचनाओं का प्राप्त होना, टिकना और उनका इस्तेमाल कर पाना कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। यदि मुख्य कार्य ही नहीं होगा तो उपोत्पाद कहां से आएंगे?

दिमाग का मुख्य कार्य तो अनुभव ग्रहण करना है जिसकी वजह से सोचना संभव हो पाता है। अनुभव शब्द का प्रयोग आम जीवन में अलग-अलग अर्थों में किया जाता है, लेकिन अनुभव शब्द का प्रयोग इस आलेख में एक तकनीकी पद

के रूप में किया जा रहा है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त बोध अनुभव की श्रेणी में नहीं आता। इन्द्रियां जो संकेत मष्तिष्क को भेजती हैं उसे भी हम अनुभव नहीं मान सकते। मष्तिष्क में पैदा होने वाले स्नायु आवेग जो दिमाग या चेतना को संकेत भेजते हैं वो भी अनुभव नहीं हैं। अनुभव तो वह तब बनता है जब दिमाग अपने पूर्व-अनुभवों का इस्तेमाल करते हुए इन नए स्नायु आवेगों से अर्थ निर्माण करता है। अनुभव इस प्रकार एक सजग और अर्थपूर्ण प्रक्रिया है। हम लगातार जिस दुनिया में रहते हैं उसमें होने वाली घटनाओं के बारे में सोचते रहते हैं। हम अतीत में हो चुकी और भविष्य में होने वाली चीजों के बारे में भी सोचते हैं। हमारी आज की दुनिया का मतलब ही हमें अतीत के आईने और भविष्य के चश्मे से समझ में आता है जोकि लगातार सोचते रहने से ही संभव है। सोचने की इस निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया पर हमारे ध्यान नहीं देने का यह मतलब नहीं होता कि हम सोचते नहीं हैं। जब हमें लगता है कि हम सोचने की बजाय कुछ और कर रहे हैं, तब भी हम सोचते ही होते हैं। यदि हम सड़क पर चलते हुए किनारे खड़े पेड़ों से नहीं टकराते हैं तो यह बिना सोचे संभव नहीं है। और यदि हम किसी पेड़ से टकरा ही जाएं, तो इसका मतलब यह होता है कि हम उस समय सड़क पर चलने के बारे में सोचने की बजाय किसी और चीज के बारे में सोच रहे होते हैं। आदतन हम कई बार ऐसे कार्य कर देते हैं जिन पर हमें बाद में पश्चाताप होता है। इस तरह के कार्यों के करने/होने के लिए भी कोई न कोई सोच जिम्मेदार होती है जो बाद में हमें ठीक नहीं लगती। यूं कहें तो, हमारी सोच हमें सही या गलत लग सकती है, पर हमारा सोचना शायद सोने के अलावा कभी बंद नहीं होता। जब हम यह कहते हैं कि *'माफ करना मैंने सोचा नहीं था कि यह तुम्हें बुरा लगेगा'*; उस समय दरअसल हम यह कह रहे होते हैं कि *'मैंने सोचा था कि तुम्हें बुरा नहीं लगेगा, या अच्छा लगेगा'*।

सोचना और निर्णय लेना

यदि सोचने की प्रक्रिया को हम थोड़ी देर के लिए रोक सकें, जो कि संभव नहीं है, तो हमें इन्द्रिय-बोध तो होंगे पर जगत-बोध नहीं होगा। इन्द्रियों और मष्तिष्क के माध्यम से जो हमें प्राप्त होता है वह स्नायु आवेग (neural impulse) होता है। इन आवेगों के आधार पर दिमाग को बाहरी जगत की एक तस्वीर बनानी होती है जो सोचने के बिना संभव ही नहीं है क्योंकि दिमाग के पास कोई आंख, नाक या कान तो होता नहीं। हमारा दिमाग लगातार इस काम को इतनी सहजता और सटीक तौर पर करता रहता है कि हम इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते हैं। कभी-कभी हमारा दिमाग गलती भी करता है और हम मृग-मरीचिका को पानी समझ लेते हैं।

हमारा दिमाग बिना किसी खास प्रयास के निरंतर योजनाएं बनाता रहता है, अनुभवों और सूचनाओं का अलग-अलग तरह से वर्गीकरण कर उनको व्यवस्थित करता रहता है, अनुमान लगाता रहता है, निर्णय लेता रहता है, और समस्याओं का समाधान करता रहता है। इन सारी प्रक्रियाओं के बिना एक छोटे बच्चे के जीवन की भी कल्पना मुश्किल लगती है। कैसे तय करते हैं बच्चे कि कब उन्हें बोलना है और कब चुप रहना है? कैसे जान पाते हैं कि कौन मित्र है और कौन नहीं? ऐसे में बच्चों के बारे में यह कहना कि *'वे सोच नहीं पाते, सोचते नहीं या ठीक से नहीं सोचते हैं'* कितना ठीक लगता है? बच्चों या बड़ों के ठीक से नहीं सोच पाने का कारण जानकारी का आभाव या जल्दबाजी में किसी गलत मान्यता को आधार बना लेना होता है न कि किसी प्रकार की मानसिक अक्षमता। बच्चे या बड़े भी उन परिस्थितयों में ठीक से सोचकर कोई निर्णय नहीं ले पाते है जब उनके पास जानकारी का अभाव हो, या लिए जाने वाले निर्णय का हमारे जीवन पर कोई अत्यंत ही गंभीर प्रभाव पड़ने वाला हो। उदाहरण के लिए मेरे जैसा कोई व्यक्ति खगोल भौतिकी (astrophysics) से जुड़ी बातों के बारे में ठीक से नहीं सोच पाएगा। लेकिन इसकी वजह मेरे सोचने की क्षमता में कोई कमी होने की बजाय मेरे ज्ञान का अभाव होगा। वैसे ही, यदि आज मुझे यह तय करना हो कि मैं अपनी सारी जमा पूंजी भविष्य में होने वाले लाभ की आशा में एक जमीन के टुकड़े को खरीदने में लगाऊं या नहीं तो ठीक से सोच कर निर्णय ले पाना मेरे लिए काफी मुश्किल होगा। शायद मैं कोई निर्णय ही ना ले पाऊं और तब तक कोई दूसरा व्यक्ति उस जमीन के टुकड़े को ले जाए। परन्तु इसका कारण मेरे सोच पाने की क्षमता में कमी की बजाय निर्णय के होने वाले गंभीर परिणाम होंगे।

सोचना और समस्या-समाधान

सोचने को हम अपने दैनिक जीवन में लगातार चलती रहने वाली समस्याओं के समाधान के रूप में भी देख सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि भाषा सीखने की बात करें तो इसकी प्रक्रिया में बच्चे लगातार समस्याओं का समाधान करते हैं। हम शायद ही कभी छोटे बच्चों को शब्दों का अर्थ या वाक्य-विन्यास (syntax) के नियम बताते हैं। हम तो संदर्भों में उन शब्दों या वाक्यों का प्रयोग भर कर देते हैं और शेष बच्चों पर छोड़ देते हैं। वे स्वयं ही परिकल्पनाएं बनाकर और उनको बार-बार संशोधित कर इन समस्याओं का समाधान करते हैं (Chomsky,1959; Kuhn, 1989; Piaget 1926 & 1959)।

कुछ लोग समस्या समाधान को एक अलग तरह के सोचने की श्रेणी में रखते हैं। उनका मानना है कि समस्याओं के समाधान के लिए एक सामान्यीकृत कौशल की आवश्यकता होती है जिसे सिखाया जा सकता है और जिसको सीख लेने के बाद व्यक्ति किसी भी तरह के समस्या का समाधान कर सकता है। परन्तु समस्याएं तो अलग-अलग तरह की होती हैं। एक ही तरीके से दो अलग-अलग समस्याओं का समाधान कैसे संभव है? एक ही परिस्थिति किसी के लिए समस्या हो सकती है और किसी के लिए नहीं। पानी की भरी हुई बाल्टी उठाना एक छोटे बच्चे के लिए समस्या हो सकती है पर आपके लिए नहीं। बिजली के तार जोड़ने, कम्प्यूटर फोर्मेटिंग करने, छोटे बच्चे को भिन्न सिखाने, शतरंज खेलने और शहर में एक जगह से दूसरी जगह का रास्ता ढूंढने के लिए अलग-अलग तरह के ज्ञान और कौशल की आवश्यकता होगी। इन सबका समाधान करने की क्षमता किसी सामान्यीकृत कौशल को सिखा कर कैसे विकसित की जा सकती है? हां, इन सारी समस्याओं के समाधान के लिए सोचना अवश्य पड़ेगा। परन्तु सोचने की क्षमता तो एक सामान्य मानवीय क्षमता है जो हम सबके पास होती है। फिर समस्या-समाधान को एक अलग श्रेणी में रखने की क्या जरुरत है? जैसे हम मानव जीवन में आने वाली समस्याओं की कोई एक श्रेणी नहीं बना सकते, उसी तरह हम इनके समाधान की भी कोई एक श्रेणी न तो बना सकते हैं और ना ही सिखा सकते हैं।

सोचना और तर्क करना

निर्णय लेने या समस्याओं के समाधान करने की ही तरह तर्क करने (reasoning) या तर्कपूर्ण ढंग से सोचने को भी एक अलग प्रकार के सोचने के रूप में देखा जाता है और इसे सीखने-सिखाने के विशेष तौर-तरीकों की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। आमतौर पर तर्क का सजग इस्तेमाल हम अपने निर्णयों या निष्कर्षों को सही ठहराने के लिए करते हैं। किसी अन्य व्यक्ति को अपने विचारों से सहमत करने के लिए भी हम तर्क का ही सहारा लेते हैं। तकनीकी रूप से कहें तो तर्क की मदद से हम विचारों और कर्मों के बीच एक मजबूत रिश्ता बनाने की कोशिश करते हैं। परन्तु तर्क करने को सिर्फ सह-संबंध (association) स्थापित करने के रूप में नहीं समझा सकता है। तर्कपूर्ण सहसंबंधों का व्यावहारिक और विश्वसनीय होना भी आवश्यक है।

अगर तर्क करने को इस प्रकार देखें तो यह कहना मुश्किल हो जाता है कि इसका कोई सामान्यीकृत रूप या सिद्धांत हो सकता है। अलग-अलग क्षेत्र में तर्क कर पाने की क्षमता संबंधित क्षेत्र में हमारी जानकारी पर निर्भर करेगी। किसी पारिवारिक समस्या, राष्ट्र की आर्थिक समस्या, या कृषि से जुड़ी हुई समस्या के बारे में व्यावहारिक और विश्वसनीय रूप से तर्क हम तभी कर पाएंगे जब हमारे पास संदर्भों से संबंधित ज्ञान हो। अक्सर यह भी होता है कि एक ही घटना के आधार पर दो व्यक्ति तर्कपूर्ण ढंग से अलग-अलग निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। विपक्षी दलों के राजनेताओं के उदाहरण हमें समझने में मदद करेंगे। सच तो यह है कि, वो तर्क की मदद से अपने वैचारिक या राजनैतिक पूर्वाग्रहों को सही साबित कर रहे होते हैं। जब हम किसी के तर्क से असहमत होते हैं तो कह देते हैं कि वह तर्कपूर्ण ढंग से नहीं सोच रहा है। अगर देखें तो तर्क करना एक सामान्य-सी प्रक्रिया है जो इंसान लगातार करता रहता है। हम अगर सब्जी मंडी जाते हैं तो उसके पीछे भी तर्क होता है। और जब हम सब्जी मंडी से बिना कुछ खरीदे लौट आते हैं तो उसके पीछे भी तर्क होता है। विश्वास नहीं होता तो किसी से पूछ कर देखें जिसने ऐसा किया हो।

स्कूली शिक्षा से एक आम शिकायत यह है कि वह बच्चों को तर्कपूर्ण ढंग से सोचना नहीं सिखा पाती है। परन्तु यदि हम तर्क की ऊपर बनी समझ के संदर्भ में देखें तो यह बात ठीक नहीं लगती। यह हो सकता है कि बच्चे शास्त्रीय तरीके से तर्क (logical thinking) न कर पाएं (सभी 'अ' 'ब' हैं; सभी 'ब' 'स' है; अतः कुछ 'स' 'अ' हैं।)। परन्तु जीवन से जुड़ी समस्याओं को सुलझाने के लिए इस प्रकार के शास्त्रीय तर्क परेशानी का कारण बन सकते हैं। जीवन कोमन सेंस और मूल्यों से संचालित होता है जबकि शास्त्रीय तर्क कम्प्यूटर की तरह कोमन सेंस और मूल्य विहीन होते हैं। मानवीय समाज के धार्मिक, राजनैतिक और सामजिक विवाद अलग-अलग मूल्यों की वजह से होते हैं न कि तर्क-क्षमता के आभाव की वजह से।

उच्च-स्तरीय सोच

स्कूली शिक्षा में उच्च-स्तरीय सोच (higher order thinking) का आभाव एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में चिन्हित किया जाता है। यह पद (phrase) आम बातचीत की बजाय शिक्षाविदों और मनोवैज्ञानिकों की बातचीत में अधिक मिलता है। इसकी कोई ऐसी विशेषता जो इसे सामान्य सोच से अलग करती हो या इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं मिलती। इस तरह के विचार का एक श्रोत बेंजामिन ब्लूम (1956) के संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के व्यवहारवादी वर्गीकरण में दिखाई पड़ता है जहां उद्दीपन-प्रतिक्रिया (stimulus-response) पदानुक्रम में सबसे नीचे रखी गई है जबकि मूल्यांकन और अनुप्रयोग (evaluation and application) सबसे ऊपर। इससे जुड़ी बातों को यदि ध्यान से देखें तो ऐसा लगता है कि उच्च-स्तरीय सोच के अस्तित्व में विश्वास करने वाले विद्वानों की दो मान्यताएं हैं- पहली तो यह कि सोचने के भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं, और दूसरी यह कि उनका कोई पदानुक्रम बनाया जा सकता है। सामान्य समझ यह बनती है कि उच्च-स्तरीय सोच सोचने का सबसे प्रभावशाली रूप है जिसे सभी लोगों की बजाय कुछ लोग ही कर सकते हैं। इस तरह की समझ सोचने के एक अभिजात्य तरीके की स्थापना करती है। यह ना सिर्फ सोचने के अलग-अलग तरीकों की बात कर उनमें भेद करती है, बल्कि उच्च और निम्न सोच जैसी अवधारणा को भी बल देती है। समाज में किये जाने वाले अन्य भेद-भावों की तरह इसका आधार भी पूर्णतः काल्पनिक है। आज तक किसी भी शोध द्वारा उच्च और निम्न-स्तरीय सोच का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाया है (Smith, 1992)।

इन सब आपत्तियों के बावजूद मान्यता ऐसी दिखती है कि निम्न-स्तरीय सोच हमारे दिमाग की सामान्य स्थिति है जिसके उदाहरण आम जीवन में देखने को मिलते हैं। इस तरह की सोच बिना किसी विशेष प्रयास के आदतन होने वाली प्रक्रिया है। जबकि उच्च-स्तरीय सोच में उच्च श्रेणी के मूल्य जैसे योजना बनाना, कल्पना करना, अनुमान लगाना, मूल्यांकन करना, विश्लेषण करना, संश्लेषण करना आदि शामिल हैं। उच्च श्रेणी की सोच के साथ अक्सर नेतृत्व की क्षमता को भी संबद्ध कर लिया जाता है। इन सब के आधार पर एक ऐसी समझ बनती जा रही है कि उच्च-स्तरीय सोच की प्रक्रिया अधिक जटिल और गूढ़ होती है, जिसके लिए विशेष ध्यान और बेहतर मष्तिष्क की जरुरत होती है। यह समझ एक-दूसरे स्तर पर भेद करती दिखाई देती है - कुछ लोग ही इस तरह से सोच पाने में सक्षम होते हैं और वो अन्य लोगों से बेहतर होते हैं।

यदि थोड़ा रुक कर सोचें तो उच्च-स्तरीय सोच के तत्व सामान्य सोच से अलग नहीं दिखाई पड़ते। उच्च-स्तरीय सोच मुश्किल इसलिए हो जाता है क्योंकि इसे संदर्भों से काटकर किसी जांच प्रक्रिया का हिस्सा बना दिया जाता है। इस जांच परीक्षा में बेहतर सोचने की बजाय भाषा तथा जांचकर्ता की अपेक्षाओं की बेहतर समझ अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। रोजमर्रा के जीवन में हम लगातार योजना बनाते हैं, कल्पना करते हैं, विश्लेषण करते हैं, तुलना करते हैं, मूल्यांकन करते हैं, चयन करते हैं, आदि। हां, यदि इस पूरी प्रक्रिया को किसी को बताना हो तो हमें लिखने या बोलने की भाषाई कौशल की आवश्यकता होगी। यदि कोई व्यक्ति इसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पा रहा है तो इसे भाषाई कौशल की समस्या की तरह देखा जाना चाहिए न कि सोचने की समस्या की तरह।

संज्ञानात्मक और परा-संज्ञानात्मक (cognitive and metacognitive) सोच

एक भेद संज्ञानात्मक और परा-संज्ञानात्मक सोच में भी किया जाता है। संज्ञानात्मक सोच में हमारा ध्यान किसी बाहरी वस्तु, व्यक्ति या घटना पर होता है, जबकि परा-संज्ञानात्मक सोच में स्वयं का संज्ञान ही सोच की विषयवस्तु होता है। अपने विचारों को भौतिक रूप से देख पाना तो हमारे लिए संभव ही नहीं है। क्या ऐसा नहीं है कि संज्ञानात्मक सोच में हम किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना के साथ हमारी अन्तःक्रिया के दौरान उपजे विचारों के बारे सोचते हैं, जबकि परा-संज्ञानात्मक सोच में हमारी पहली सोच से उपजे विचारों के बारे सोचते हैं? यदि यह सच है तो फिर दोनों ही तरह के सोच में हम विचारों के बारे में सोच रहे होते हैं। फिर इनके बीच भेद किस आधार पर करें?

इस बातचीत में यह सवाल अक्सर आता है कि यदि दोनों तरह का सोचना एक-सा ही है, तो फिर एक दूसरे की तुलना में मुश्किल क्यों होता है? क्यों कुछ लोग वस्तु, व्यक्ति या घटनाओं के बारे में तो सोच लेते हैं परन्तु वैचारिक सवालों के उत्तर देने में असफल होते हैं? इसके दो कारण समझ में आते हैं। पहला तो यह कि एक प्रकार का सोचना हमारे दैनिक जीवन के अभ्यास का हिस्सा है जबकि दूसरे प्रकार का सोचना पूर्णतया कृत्रिम है जिसके लिए अभ्यास की आवश्यकता होगी। दूसरा, इसमें भाषाई कौशल भी महत्वपूर्ण होगा क्योंकि इसे या तो बोलकर या लिखकर व्यक्त करना होता है। तो क्या हम अभ्यास की कमी या भाषाई कौशल के अभाव में किसी को सोचने में अक्षम करार देंगे?

यदि इस चर्चा को पूरा करें तो कह सकते हैं कि सोचना इंसानी दिमाग की एक सामान्य प्रक्रिया है जो लगातार चलती रहती है। अलग-अलग लोगों के सोचने में फर्क प्रक्रिया में अंतर के कारण होने की बजाय उनके मूल्यों, मान्यताओं और प्राथमिकताओं में अंतर की वजह से होता है। विषयवस्तु की जानकारी, प्रक्रिया का अभ्यास, और भाषाई कौशल भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परन्तु इनके आधार पर यह कहना संभव नहीं है कि किसी एक प्रकार का सोचना दूसरे प्रकार के सोचने से बेहतर होता है, या कुछ लोग एक प्रकार से तो सोच सकते हैं पर दूसरे प्रकार से नहीं। इस आलेख का अंत कबीर की एक साखी से करना उपयुक्त लगता हैः

एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।
माली सींचे मूल को, फूले फले अघाय।। ◆

लेखक परिचय : दिगन्तर की अकादमिक संदर्भ इकाई में समन्वयक के पद कार्यरत हैं।

संपर्क : 9660660661; kumarrajeshdigantar@gmail.com

प्रजनन को लेकर बच्चों के सवाल

शिक्षक की दुविधा

कालू राम शर्मा

हाल ही में अपने ही साथी ने ईमेल पर वह सवाल पूछा जो चौथी कक्षा की छात्रा ने अपने शिक्षक से पूछा था। सवाल है 'बच्चा पेट में कैसे आ जाता है?' जैसा कि शिक्षक ने अपने साथी से कहा भी कि यह एक चुनौती है कि इस तरह के सवालों पर बच्चों के साथ कैसे बातचीत करें। सवाल मानव प्रजनन से जुड़ा है इसलिए इसे विमर्श में लाने से भरपूर परहेज किया जाता है। वजह? हम अपने बच्चों को इस तरह की चीजों से बचाकर रखना चाहते हैं। शायद यह एक वजह है कि बच्चे इस आड़ में अमर्यादित राह पर कदम बढ़ाने को अग्रसर होते हैं।

बेशक, सवाल दिलचस्प है। और भी दिलचस्प यह है कि एक बच्ची ने यह सवाल पूछा है जहां लड़कियों के सवाल करने में सामाजिक बंधन पहाड़ जैसे बाधक बनते हैं। इसलिए सवाल अगर किसी शिक्षक से पूछा गया है तो उस शिक्षक की यह खूबी कही जानी चाहिए कि वह अपनी कक्षाओं के बच्चों को सवाल करने का माकूल माहौल प्रदान करते हैं।

सवाल करना शिक्षा के एक प्रमुख हुनर के रूप में पहचाना गया है। बच्चे अपने आसपास की घटनाओं और प्रक्रियाओं पर सवाल करें और उनके जवाब खोजें। इससे भी बढ़कर सवाल पूछने का साहस बच्चों में आ पाए। कमोबेश यही साहस उन्हें अपने जीवन को लोकतांत्रिक तरीके से जीने के लिए अपरिहार्य है।

बहरहाल, हम मूल सवाल पर आते हैं कि आखिर उस चौथी कक्षा की छात्रा को इस सवाल का जवाब दें या न दें। दूसरी बात यह है कि अगर सवाल का जवाब देना है तो क्या जवाब देना चाहिए। किस हद तक जाना चाहिए? इन दोनों बातों पर हम विचार करेंगे।

पहली बात यह कि कोई भी बच्चा कोई भी सवाल करता है तो उसके सवाल का संज्ञान लिया जाना चाहिए। अब दूसरी बात पर आते हैं। सवाल का जवाब क्या दिया जाए?

मामला जटिलता का या टालने का

चूंकि सवाल मानव प्रजनन व यौन संबंधों की श्रेणी में आता है इसलिए जाहिर है कि हम अपने बीच इस विमर्श से बचते हैं। अक्सर शिक्षक अपनी कक्षाओं में प्रजनन की अवधारणा पर बातचीत करने से कतराते हैं। सुधि पाठकों के पास ऐसे तमाम उदाहरण होंगे जहां शिक्षक न केवल माध्यमिक कक्षाओं के स्तर पर बल्कि महाविद्यालयों के स्तर पर भी जीव शास्त्र में जब प्रजनन तंत्र के शिक्षण की बारी आती तो उसे टालने की कोशिश करते हैं या फिर अगर वे पढ़ाते भी हैं तो शिक्षक और छात्रों की नजरें जुदा ही होती हैं।

मैं अपना ही उदाहरण दे सकता हूं। जब मैं स्नातक कक्षाओं में अध्ययन कर रहा था तब मेरे शिक्षक केंचूए का प्रजनन तंत्र पढ़ाने से कतराते थे। जब वे किसी जंतु के प्रजनन तंत्र को पढ़ाते भी तो उनकी नजरें सामने बैठे हम छात्रों की नजरों से नहीं टकराती।

अक्सर हम प्रजनन के मूलभूत मामलों में बातचीत करने में कतराते हैं। बच्चियों को माहवारी के बारे में तब तक पता नहीं होता जब तक कि वे माहवारी से गुजरती नहीं। अमूमन अचानक ही इसका एक समस्या के रूप में बच्चियों को सामना करना पड़ता है जबकि एक बच्ची अमूमन 10-11-12 वर्ष की उम्र में माहवारी की प्रक्रिया से गुजरना प्रारंभ कर देती है। लेकिन उसे इस प्रक्रिया के व्यवहारिक पहलूओं के बारे में पता नहीं होता। उसे इस जैविक प्रक्रिया से सामना करने के लिए भी मानसिक तौर पर तैयार नहीं किया जाता। यह नहीं कहा जा रहा है कि उसे माहवारी का जीव विज्ञान बता दिया जाए। बल्कि उसे यह बताया जाए कि यह एक सामान्य प्रक्रिया है और इसके दौरान उसे क्या सावधानी बरतनी चाहिए।

माहवारी को लेकर अभी हम यहां अधिक बातचीत नहीं करेंगे मगर सामजिक तौर पर माहवारी को लेकर जिस प्रकार की विकृति समाज में आ चुकी है उसकी एक प्रमुख वजह विमर्श से परहेज है। इसके चलते औरत की कुदरती जैविक प्रक्रिया विकृति की शिकार हो जाती है।

बच्चों को क्या बताएं और क्या नहीं?

बच्चों को क्या बताया जाए और क्या न बताया जाए, यह कोई विवाद का विषय नहीं है। बच्चा जो भी बुनियादी तौर पर समझना चाहता है, सीखना चाहता है या पता करना चाहता है उसके लिए उसे रोकना नहीं चाहिए। यह कहकर टाल देना कि यह अभी उचित समय नहीं है, उचित नहीं है। हां, हमें किसी मामले में कितनी गहराई तक जाना है यह बच्चों के संज्ञानात्मक स्तर को ध्यान में रखते हुए तय करना होगा।

चौथी कक्षा में पढ़ रही बच्ची की उम्र लगभग 9-10 (अगर एक बच्ची 5 वर्ष की उम्र में स्कूल में भर्ती होती है तो) वर्ष की होगी। एक 9-10 वर्ष की बच्ची के विविध अवलोकनों में यह जरूर शामिल होगा कि उसके आसपास की दुनिया में बच्चों ने जन्म लिया। बच्चों के घरों में मुर्गियां अंडे देती होंगी। गाय-बकरियां, कुतिया ने बच्चे भी जने होंगे। उनके अपने इस प्रकार के अवलोकनों के अनुभव जरूर होंगे।

अब मूल सवाल यही है कि उस 'क्यों' का जवाब बच्चे को दिया जाए या नहीं। यही यक्ष प्रश्न है। वास्तव में प्रजनन का पूरा मामला काफी जटिल है। यह टालने का मामला नहीं बनता। इसे शिक्षक और किसी भी वयस्क को जो बच्चों के साथ बातचीत करता है, उसे एक स्वाभाविक सवाल के रूप में लेना चाहिए। बच्चों के स्तर पर कोई भी सवाल यह जरूर मांग करता है कि उसका जवाब बच्चों के संज्ञानात्मक स्तर को छूते हुए प्रस्तुत किया जाए।

जटिलता के मामले को कैसे संभाले?

तो अब आते हैं कि खासकर बच्चों को यह कैसे बताया जाए कि आखिर बच्चा पेट में कैसे आता है? इसको लेकर एक मोटी-मोटी समझ तो वयस्कों को है मगर यह समझ भी लगता है कि गलत ही है। यही वजह है कि स्त्री के गर्भधारण के बाद भी कई लोग पुत्र रत्न की प्राप्ति के लिए तंत्र-मंत्र के चक्कर में पड़े रहते हैं। अगर एक बार गर्भधारण हो गया तो फिर मनुष्यों में भ्रूण के लिंग निर्धारण को बदला नहीं जा सकता। (हां, कुछ सरिसर्पों जैसे कि मगर, घड़ियाल, कछुए और अंधा सांप में लिंग का निर्धारण तापमान से होता है)।

बहरहाल, इस पूरे मामले को बच्चों के साथ कैसे बातचीत में कैसे लाया जाए। इसका कोई एक रामबाण जवाब नहीं हो सकता। मामला प्रजनन की विषयवस्तु की समझ से अधिक शिक्षणशास्त्र (पेडागॉजी) का अधिक है।

जवाब एक :

एक दंपति ने अपनी बड़ी बेटी को जन्म के चार साल के बाद बताया कि उनके घर में एक और बच्चा आने वाला है। उस बच्ची को यह बताया कि तुम्हारा भाई या बहन आने वाला है। जब मां का उदर भ्रूण के विकास के साथ बढ़ता गया तो उस बच्ची को भ्रूण की हरकतों (जैसे कि हिलना-डुलना) को महसूस करवाया जाता। उस बच्ची ने आखिर पूछा कि यह बच्चा पेट में कैसे आया होगा?

मां ने बताया कि मेरे पेट में एक अंडादानी है। इस अंडादानी से बहुत ही छोटा अंडा छूटा और फिर तुम्हारे पापा ने एक बीज मेरे शरीर में डाला। इस तरह से मेरे अंडे और तुम्हारे पापा के बीज मिलकर एक बन गए। इस तरह से तुम मेरे पेट में बनी। फिर तुम्हें मैंने पूरे नौ महीने पेट में रखा। फिर मुझे अस्पताल ले गए। वहां फिर मेरे पेट से तुमको बाहर निकाला। फिर तुम्हें अच्छे से नहलाया। फिर कुछ दिनों के बाद घर ले आए। इस तरह से तुम्हारा जन्म हुआ।

जवाब दो :

एक मां से बच्चे ने पूछा कि मैं कहां से आया? मां ने बताया कि तुम मेरे पेट में नौ महीने तक रहे। फिर एक दिन ऐसा हुआ कि मुझे पेट में जोर का दर्द होने लगा। फिर अस्पताल में ले गए। वहां फिर तुम्हारा जन्म हुआ। पांच वर्ष के बच्चे को उसके मनमाफिक जवाब मिल चुका था।

जवाब तीन :

आठवीं कक्षा की एक बच्ची ने अपनी शिक्षिका से सवाल पूछा कि बच्चे कैसे बनते हैं? उस शिक्षिका ने विस्तार से बताया। उल्लेखनीय है कि उस कक्षा में लड़के और लड़कियां दोनों ही अध्ययन कर रहे थे। वह बच्चों से बातचीत भी करती जा रही थी।

कोई भी जीव हो दुनिया में। चाहे वह पेड़-पौधे हों या जानवर। वह अपने वंश को आगे बढ़ाने के लिए अंडे-बच्चे जरूर पैदा करते हैं। यह दो तरीके से होता है।

पहला तरीका है, जिसमें किसी पेड़-पौधे की हम कलम काटकर जमीन में गाड़ देते हैं और उससे नया पौधा बन जाता है। यह अलैंगिक तरीका है। पेड़-पौधों में ऐसे अधिक उदाहरण दिखाई देते हैं। आपने अवलोकन किया होगा कि आलू, अदरख, गन्ने, हल्दी की फसल के लिए इनको बो देते हैं और नए पौधे फूट आते हैं।

जो पौधे बीज से बनते हैं यह लैंगिक प्रजनन है। बीज फूल से बनते हैं। यह लैंगिक प्रक्रिया है। इसमें फूल के नर भाग के परागकण मादा की वर्तिकाग्र तक पहुंचते हैं। इसमें दो लिंगों का होना अनिवार्य शर्त है।

अबकी बार शिक्षिका ने पूछा कि तुमने अपने आसपास जानवरों के बच्चे देखे होंगे? ये कैसे बनते होंगे? बच्चों के जवाब थे कि गाय, बछड़े को जनती है। एक छात्र ने बताया कि उसने गाय को बछड़ा जनते हुए उसके खेत में देखा है। बछड़े का माथा (सिर) गाय के पिसाब (पेसाब) वाले रास्ते से बाहर को निकला। फिर उसके माथे को पकड़कर एक आदमी ने खींचा। गाय परेशान हो रही थी। थोड़ी देर में बछड़ा जमीन पर गिर गया। बछड़े को खून लगा हुआ था। फिर उसके पेट से एक लंबी डोरी (रस्सी) लगी हुई थी। उसको थोडी देर बाद एक चाकू से काट दिया। फिर गाय बछड़े को चाटने लगी। एक घंटे में बछड़ा उठकर बैठ गया और खड़ा होने की कोशिश करने लगा।

एक छात्रा ने बताया कि उसके बाड़े में कुतिया ने छह पिल्लों को जना था। उसने बताया कि चूंकि कुतिया ने रात में पिल्लों को जन्म दिया इसलिए कैसे जने ये देखा नहीं जा सका।

अब शिक्षिका ने पूछा कि आखिर कैसे मां के पेट में बच्चे बनते हैं? इसको लेकर बच्चों के पास कोई जवाब नहीं था। शिक्षिका ने इस मामले में चतुराई से बातचीत की।

'देखो, ये तो हम समझते हैं कि कुत्ते में कुत्ता और कुतिया होती है। कुत्ता नर और कुतिया मादा होती है। बकरा नर और बकरी मादा होती है। ऐसे ही चूहे और चूहिया, सुअर और सुअरनी...। इनमें नर और मादा का मिलना जरूरी होता है। अंडा मादा की अंडादानी में बनता है। नर शुक्राणु मादा की बच्चेदानी (गर्भाशय) में डालता है। यहां पर मादा के अंडाणु से शुक्राणु का जुड़ाव होता है और गर्भ ठहर जाता है। इस तरह से आगे फिर यह बच्चादानी में चिपक जाता है।

इंसानों में भी ऐसा ही होता है। मां के पेट में बच्चा नौ महीने रहता है। मां की अंडादानी से अंडा छूटता है। और फिर पिताजी से शुक्राणु मां के गर्भाशय में पहुंचता है। दोनों मिलते हैं और फिर वह बच्चादानी से चिपक जाता है। फिर नौ महीने के बाद बच्चे का जन्म होता है।

शिक्षिका इस विमर्श में अपना दायरा भी निर्धारित करती जा रही थी। शिक्षिका ने बच्चों को जहां अपने अनुभव साझा करने के मौके दिए वहीं पर वह सरलता से बच्चों के जन्म की कहानी प्रस्तुत कर सकी।

जवाब चार : एक किताब से

एक किताब है 'बच्चे कैसे बनते हैं?' जिसे भारत ज्ञान विज्ञान समिति ने प्रकाशित किया है। यह किताब हाउ बेबीज़ आर मेड? का हिंदी अनुवाद है जिसे अरविंद गुप्ता टायॅज गैलरी पर प्राप्त किया जा सकता है। किताब की शुरुआत इस बात से होती है कि सेक्स संबंधी इस तरह के सवाल तीन साल के होते-होते बच्चे पूछने लगते हैं। सभी बच्चे इस विषय की ओर कभी-न-कभी आकर्षित होते ही हैं और इस बारे में अधिक जानना चाहते हैं।

इस पुस्तक के पहले पन्ने और एक और अन्य पन्ने को यहां हुबहू प्रस्तुत किया जा रहा है जो एहसास कराती है कि बच्चों के साथ कितनी आसानी से मगर ईमानदारी से इस मामले में बातचीत की जा सकती है।

जब तुम्हारा जीवन शुरू हुआ, तब तुम बहुत ही छोटे थे। शायद इस पेंसिल द्वारा बनाए गए काले बिन्दु से भी छोटे।

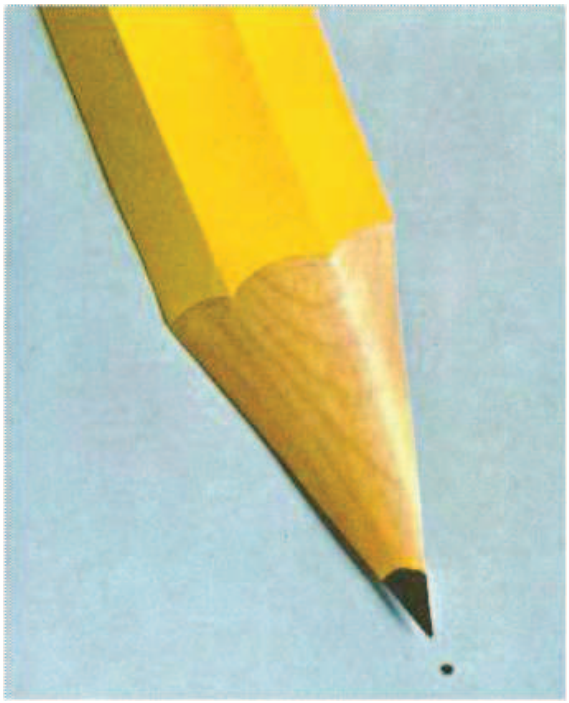

इस दुनिया में तुम जैसे बहुत से जीवों ने अपने जीवन की शुरुआत एक छोटे से अंडे से की।...

आगे और पढ़ने, इसका इस्तेमाल करने के लिए इस पुस्तक को निम्न साईट पर जाकर प्राप्त किया जा सकता है -

https://archive.org/details/BachcheKaiseBanteHain-Hindi

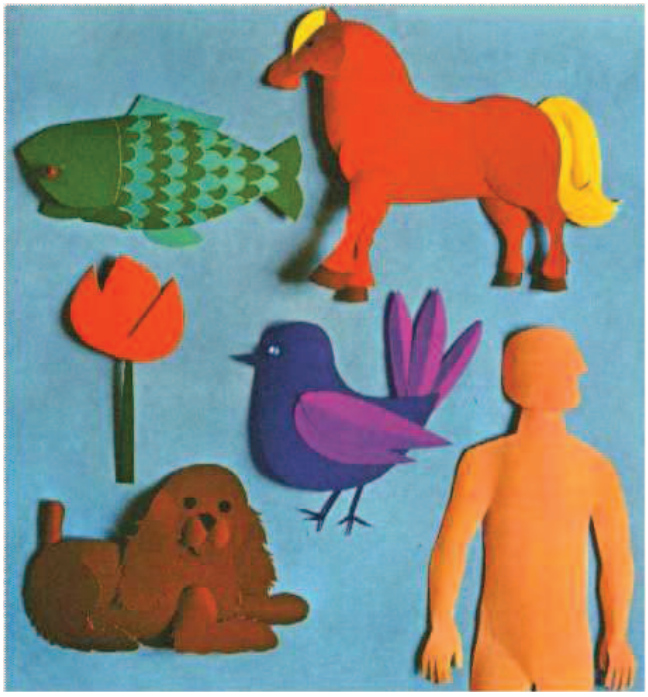

अहम क्या है?

इस तरह के सवालों में अहम? प्रजनन तंत्र की संपूर्ण जानकारी देना नहीं बल्कि विमर्श का रास्ता खोलना है।

बच्चों के सामने नेक नीयत के साथ किसी मुद्दे पर बात रख पाना जहां शिक्षक की खूबी होती है वहीं यह बच्चों का शिक्षक में विश्वास जगाता है। बिना किसी संकोच के साफगोई से इस विषय पर बातचीत हो सकती है। 'सेक्स एडूकेशन' को लेकर बच्चों के बीच बातचीत की जा सकती है।

जरूरी है शिक्षकों के साथ बातचीत

पिछले वर्षों में मैंने खरगोन जिले में (खरगोन व रायबिड़पुरा) टीएलसी पर माहवारी पर बातचीत की थी। माहवारी का मामला भी काफी संवेदनशील है। मैंने इसके जीवशास्त्रीय व सामाजिक पहलुओं पर बेबाक तरीके से अपनी बात रखी थी। इन दोनों जगहों पर महिला व पुरुष दोनों ही शिक्षक थे। मुझे लगा कि शिक्षिकाएं व शिक्षक माहवारी के जीवशास्त्रीय पहलुओं के साथ ही सामाजिक पहलुओं पर अपने विचार साझा कर रहे थे। इससे समझ में आया कि संकोच व झिझक ही इन मुद्दों पर विमर्श के आड़े आते हैं। हां, इस विमर्श में भाषायी सयंम के साथ उचित उदाहरणों को तवज्जो देना या नजरंदाज करने की चतुराई हममें होनी चाहिए।

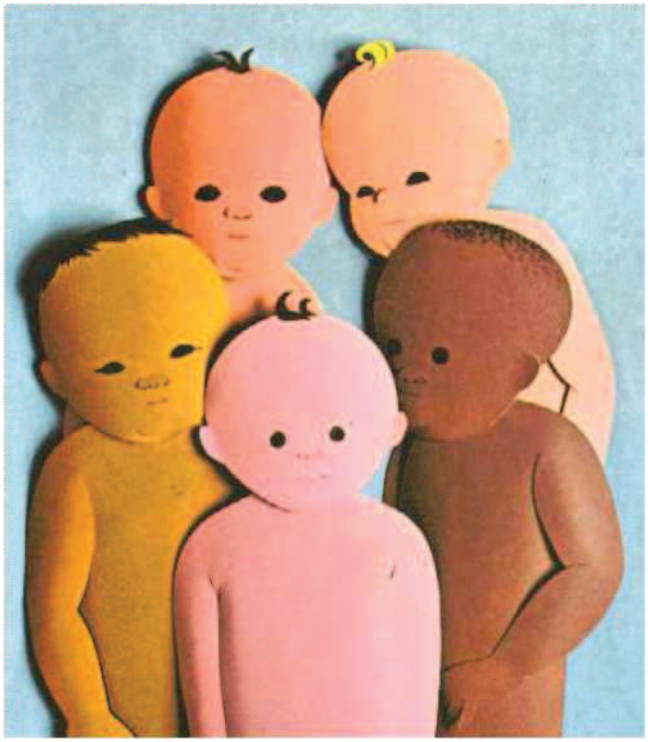

इस तरह के नाजुक मसलों पर शिक्षकों की तैयारी अहम है। असल में इन मसलों पर बातचीत करने के लिए पाठ्यपुस्तकीय सामग्री से काम नहीं बनता। इसके लिए ऐसी सामग्री हो चाहे वह विडियो के रूप में या पठन के रूप में जो बच्चों को समझाने के लिए उपयुक्त हो। ये सभी चित्र उपरोक्त किताब से लिए गए हैं। ◆

लेखक परिचय : पिछले पच्चीस सालों से विज्ञान शिक्षण, पर्यावरण अध्ययन, शिक्षा और समाज के विषयों पर निरंतर लेखन। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में लगभग 18 वर्ष तक संलग्न रहे। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं।

संपर्क : 8226000428; **ईमेल :** kr.sharma@azimpremjifoundation.org

कहानी निर्माण प्रक्रिया और भाषा शिक्षण

मौअज़्ज़म अली

प्रक्रिया का परिचय एवं महत्व

शिक्षा में कहानी के महत्व और इस्तेमाल को लेकर शिक्षाविदों की राय एक सी है। बच्चों के साथ कहानी पर काम करने के लिए अलग-अलग तरह के प्रयोग किए गए हैं। कहानी सुनने-सुनाने बनाने की प्रक्रिया उनमें से एक है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें बच्चों के सामने कहानी निर्माण की प्रक्रिया को इस तरह रखा जाता है कि बच्चों को लगता है कि वे कहानी सुन रहे हैं लेकिन असल में वे कहानी के निर्माण या रचने की प्रक्रिया में शामिल हो रहे होते हैं। भाषा शिक्षण के अंतर्गत जिस तरह कहानी सुनना-सुनाना एक रचनात्मक प्रक्रिया मानी जाती है, उसी प्रकार कहानी का निर्माण करना इससे भी बेहतर रचनात्मक प्रक्रिया कही जा सकती है। क्योंकि इसमें बच्चे सिर्फ कहानी सुनते हुए बहुत-सी मानसिक और भावनात्मक प्रक्रिया में शामिल ही नहीं होते बल्कि उनके पास इस कहानी के घटनाक्रम को अपने ढंग से आगे बढ़ाने का, जोड़ने-घटाने का, निर्णय लेने का, समाधान खोजने का रचनात्मक स्वामित्व भी हासिल होता है। वे केवल कहानी के घटनाक्रम, चरित्र और परिस्थिति से जुड़ाव ही नहीं बनाते बल्कि वे स्वयं इसके रचेता होते हैं। रचने का आनंद अपने आप में ही एक बड़ा आनंद माना जाता है। इस प्रक्रिया में कहानी के संसार का निर्माण बच्चों ने मिलकर स्वयं किया होता है तो इससे व्यक्तिगत रूप से भी और सामूहिक तौर पर भी आनंद की अनुभूति का अहसास होता है। इससे बच्चे व्यक्तिगत तौर पर रचनात्मक संतुष्टि का अनुभव तो करते ही हैं, साथ ही यह एक सामूहिक प्रक्रिया होने के कारण इससे उनमें सामूहिकता और सामाजिकता की भावना के विकास में भी मदद मिलती है। इससे वे एक-दूसरे को अपने संसार में झांकने और दखल देने की अनुमति देते भी है और लेते भी हैं, जिससे उनमें आपसी समझ और आत्मीयता की भावना का विकास होने की संभावना बढ़ती है जोकि आगे चलकर उनमें समानुभूति की भावना का विकास करने में सहायक हो सकता है। वर्तमान सामाजिक संदर्भ में इसकी बहुत आवश्यकता दिखाई देती है।

अनुभवानुसार, जब बच्चों से कक्षा में कहानी निर्माण की किसी भी एक प्रक्रिया का प्रयोग करते हुए सीधे कहा जाए कि चलो कहानी बनाओ या हम मिलकर कहानी बनाते हैं तो अक्सर बच्चे इस प्रक्रिया में प्रतिभाग करते हुए झिझकते-शरमाते-संकोच करते दिखाई देते हैं। अगर बच्चे इसमें प्रतिभाग करते भी हैं तो भी कहानी के घटनाक्रम को आवश्यक क्रमबद्धता नहीं दे पाते या अपनी बात को ठीक से रख नहीं पाते। लेकिन जिस प्रक्रिया का यहां जिक्र किया जा रहा है अगर शुरुआती स्तर पर कक्षा में इस को अपनाया जाए तो बच्चों को (विशेषकर छोटे बच्चे) मालूम ही नहीं पड़ता कि वे असल में कहानी सुन नहीं रहे हैं बल्कि बना रहे हैं और इस अनभिज्ञता में भी वे रचनात्मक प्रक्रिया के अंतर्गत अपने एक संसार का निर्माण कर रहे होते हैं जिससे उनके बहुत से कौशलों जैसे- मौखिक एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति, कल्पनाशीलता, रचनात्मकता, सोचने-विचारने, सामूहिकता और सामाजिकता की भावना, सुनने की क्षमता, निर्णय लेने एवं समाधान खोजने

की क्षमता आदि का विकास हो रहा होता है स लेकिन यह केवल एक शुरुआती प्रक्रिया है जोकि vygotsky की 'scaffolding' या 'More Knowledgable Other' के सिद्धांतों के अंतर्गत देखी जा सकती है जिसमें शुरुआती स्तर पर एक शिक्षक किसी कौशल को विकसित करने में बच्चों की मदद करता है ताकि आगे चलकर वे स्वयं इस कौशल को विकसित करते हुए स्वयं कहानी की रचना कर सकें या कहानी रचने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें।

इसके साथ ये भी जरूरी है कि बच्चों को कक्षा में अधिक से अधिक कहानी पढ़ने और सुनने के भी अवसर उपलब्ध कराए जाएं ताकि कहानी के बारे में उनकी समझ के दायरे का विस्तार हो सके और वे कहानी की संरचना को समझते हुए बेहतर कहानी निर्माण की प्रक्रिया में शामिल हो सके। कहानी निर्माण की प्रक्रिया में शामिल होने से इस बात की संभावना और बढ़ सकती है कि बच्चों में किताबें पढ़ने और लिखने की इच्छा का भी विकास हो। असल में कहानी निर्माण अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया है जो बच्चों की मौखिक और लिखित अभिव्यक्ति के विकास में सहायक हो सकती है क्योंकि जब बच्चे कहानी रचते हैं तो शिक्षक इस कहानी को बोर्ड पर या कॉपी पर लिख सकते हैं और फिर इस कहानी को बच्चों को दुबारा पढ़कर सुना सकते हैं। फिर बच्चों को इसको पढ़ने के लिए कह सकते हैं और लिखने के लिए भी।

जब बच्चे कहानी निर्माण की किसी भी प्रक्रिया में प्रतिभाग करते हैं तो वे एक-एक वाक्य जोड़ते हुए कहानी निर्माण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। वे जो भी शब्द या वाक्य बोलते हैं इससे उनके अनुभवों, संदर्भों और दुनिया को देखने के नजरिए का पता चलता है। इससे आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि कोई बच्चा या बच्चों का समूह किस पृष्ठभूमि से संबंध रखता है? उनका सोचने का तरीका क्या है? उनके अनुभव और संदर्भ क्या हैं? क्योंकि अपने अनुभवों और संदर्भों के अनुसार ही वे अपनी कल्पनाओं, विचारों को सामने रखते हैं। इससे शिक्षक को बच्चे की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को बेहतर रूप से समझने में मदद मिलती है जोकि शिक्षक को बच्चों के अनुसार प्रभावकारी शिक्षण योजना और शिक्षण पद्धति अपनाने का मार्ग प्रशस्त करती है।

कक्षा में कहानी सुनाने-बनाने की प्रक्रिया का एक उदाहरण

(एक ही कक्षा में बैठने वाले कक्षा एक और दो के 22 बच्चे अर्थात 6 से 7 वर्ष के तक आयुवर्ग के साथ का कक्षा कार्य का एक अनुभव और उसका समीक्षात्मक विश्लेषण एवं निष्कर्ष)

मैं कक्षा के एक कोने में दरी पर दीवार से टेक लगाकर बैठ गया और बच्चों से पूछा कि 'क्या मैं आपसे कुछ बात कर सकता हूं?' सभी बच्चों ने हामी भरी और तीन तरफ मेरे इर्द-गिर्द आकर बैठ गए। पहले हम सभी ने एक-दूसरे को अपना नाम बताया फिर मेरे पूछने पर कि कहानी सुनना किस-किस को पसंद है तो सभी ने अपना हाथ उठा लिया। फिर पूछा की कहानी सुनाना किसको पसंद है तो तीन-चार बच्चों ने ही अपना हाथ उठाया। फिर ये पूछने पर कि, 'क्या आप कहानी सुना सकते हो हम सभी को?' अधिकतर बच्चों ने मछली जल की रानी जैसी कवितायें सुनाई। इस पर सुजल नाम के बच्चे ने बोला, 'ये सभी कविताएं है कहानी नहीं है।' मेरे मन में आया कि क्या इनसे कहानी और कविता के अंतर पर बात की जाए, देखते हैं ये इस बारे में क्या सोचते हैं? मगर मैंने अभी इसको रहने ही दिया। फिर सुजल ने स्वयं शेर-और बकरी की छोटी-सी कहानी सुनाई। उसके बाद भी कुछ बच्चों ने कविताएं सुनाई। दुबारा पूछने पर इस बार कोई और बच्चा कहानी सुनाने को आगे नहीं आया तो मैंने पूछा, 'क्या मैं आपको एक कहानी सुनाऊं?'। सभी बच्चों ने इजाजत दे दी तो मैं उनको कहानी सुनाने लगा। मेरा मतलब है बनाने लगा या यूं कहिये कि कहानी सुनाते हुए कहानी निर्माण का काम चलने लगा।

मैंने पूछा, 'कौन सी कहानी सुनोगे', तो बच्चों ने कहा 'राजा की।'

मैंने कहा 'ठीक है।'

एक राजा था, वो क्या करता था?

बच्चे : काम करता था।

क्या काम करता था?

बच्चे : झाड़ू-पोछे का काम करता था - बर्तन धोने का काम करता था - घर बनाने का काम करता था...

अच्छा ठीक है राजा घर बनाने का काम करता था, फिर...

बच्चे : एक दिन राजा घर बना रहा था तो बहुत तेज हवा चली और घर गिर गया।

फिर क्या हुआ?

बच्चे : राजा अपने घर का सामान समेटने लगा : ईंट-गारा सब कुछ - फिर उसने एक नया घर बनाया - सोने का घर।

क्या! सोने का घर। उस घर में कौन-कौन रहता था?

बच्चे : उसकी सास रहती थी - पत्नी भी रहती थी - एक बेटा भी रहता था - और सिपाही रहते थे।

फिर क्या हुआ?

बच्चे : एक दिन सिपाही छत पर गया - उसने एक चमकती हुई चीज देखी।

वो क्या चीज होगी?

बच्चे : खजाना देखा - शायद हीरा होगा - नहीं-नहीं नागमणि होगी, वही चमकती है।

फिर पता है क्या हुआ?

बच्चे : क्या हुआ?

सोचो क्या हुआ होगा?

बच्चे : सिपाही ने ये बात जाकर राजा को बताई।

हां सिपाही ने ये बात राजा को बताई। फिर राजा ने क्या किया?

बच्चे : राजा छत पर सिपाही के साथ उस चीज को देखने गया।

क्या राजा को समझ में आया कि वो चीज क्या है?

बच्चे : राजा सोच रहा था कि ये कोई खजाना है या हीरा है या फिर नागमणि ही है।

फिर क्या हुआ होगा?

बच्चे : सिपाही और राजा घोड़े पर बैठकर उसको देखने के लिए जाते हैं।

वो जितना उस चीज के पास जाते हैं...

बच्चे : वो चीज उनसे दूर होती जाती है।

वो जितना और पास जाते हैं,

बच्चे : वो चीज और भी दूर होती जाती है।

फिर पता है क्या हुआ? सोचो क्या हुआ होगा?

बच्चे : राजा और सिपाही घोड़े से नीचे उतर गए - छुप-छुपकर जाने लगे - पेड़ों के पीछे छुपकर - घरों की दीवार के पीछे छुपकर।

वो छिपकर क्यों जा रहे थे?

बच्चे : ताकि वो चीज उनको देख न पाए - उनको देखकर दूर न जा पाए।

फिर क्या हुआ?

बच्चे : फिर वे उस चीज के पास पहुंच गए।

अरे ये क्या राजा और सिपाही ने जो सोचा था ये तो वो चीज नहीं थी। ये तो कुछ और ही चीज थी। सोचो वो

चीज क्या हो सकती है?

बच्चे : वो तो गदा था - हां हनुमान जी का गदा।

हनुमान जी का गदा यहां क्या कर रहा था?

बच्चे : शायद हनुमान जी इसको यहां भूल गए थे - नहीं-नहीं ये उनसे गुम हो गया था - हनुमान जी इसको ढूंढ रहे थे।

फिर क्या हुआ होगा? क्या वो हनुमान के गदे के पास गए?

बच्चे : हां वो उस गदे के पास जाने लगे।

अरे रुको जानते हो तभी क्या हुआ?

बच्चे : क्या हुआ?

राजा और सिपाही को वहां कोई दिखाई दिया। कौन दिखाई दिया होगा?

बच्चे : वहां हनुमान का एक भक्त था।

वो क्या कर रहा था?

बच्चे : मंत्र पढ़ रहा था - हनुमान चालीसा पढ़ रहा था।

तभी जानते हो क्या हुआ?

बच्चे : क्या हुआ?

सोचो क्या हुआ होगा जब वो बहुत देर से हनुमान चालीसा पढ़ रहा होगा?

बच्चे : वहां हनुमान जी आ गए।

कहां से आ गए?

बच्चे : ऊपर से - आसमान से - धीरे-धीरे नीचे उतरे।

फिर पता है उन्होंने भक्त से क्या पुछा?

बच्चे : हनुमान जी ने भक्त से अपने गदे के बारे में पुछा।

फिर भक्त ने क्या कहा? क्या भक्त को पता होगा उस गदे के बारे में?

बच्चे : नहीं।

फिर किसने उनको बताया होगा?

बच्चे : राजा और सिपाही हनुमान जी के पास गए - उनको गदे के बारे में बताया।

फिर हनुमान जी ने क्या कहा?

बच्चे : मेरा गदा गुम हो गया था।

फिर क्या हुआ?

बच्चे : हनुमान जी गदा पाकर खुश हो गए।

फिर क्या हुआ होगा? हनुमान जी ने क्या कहा होगा?

बच्चे : मैं अपना गदा वापस पाकर बहुत खुश हूं।

फिर क्या हुआ?

बच्चे : हनुमान जी ने कहा, तुमने मेरी मदद की जाओ और हमेशा खुश रहो।

फिर क्या हुआ?

बच्चे : हनुमान जी अपने भक्त के साथ वहां से चले गए।

राजा और सिपाही के साथ क्या हुआ?

बच्चे : वो दोनों अपने महल चले गए और हमेशा खुशी-खुशी रहने लगे।

कैसी लगी ये कहानी?

बच्चे : बहुत अच्छी

सभी को कहानी याद है?

बच्चे : हां

ऐसा करना अपने सर को भी ये पूरी कहानी सुनाना। ठीक है, सुनाओगे न?

बच्चे : हां सुनाएंगे

फिर मैंने शिक्षक की उपस्थिति में इस कहानी को बच्चों की मदद से बोर्ड पर लिखा और उनको फिर से इस कहानी को पढ़कर सुनाया। इसके बाद बच्चों को अंदाजा लगाकर पढ़ने को कहा और फिर उनको इस कहानी को अपनी-अपनी कॉपी में लिखने को कहा। जब बच्चे कॉपी में इस कहानी को उतार रहे थे तो शिक्षक से इस विषय पर बात हुई कि वह अगले दिन बच्चों द्वारा निर्मित इस कहानी पर चित्र बनवा सकते हैं और उन चित्रों पर बच्चों से बात की जा सकती है कि किस बच्चे ने कहानी की कौन सी घटना या दृश्य का चित्र बनाया है और क्यों? साथ ही वह रोजाना बच्चों को कोई कहानी पढ़कर सुनाएं और कम से कम हफ्ते में एक बार इस तरह की कहानी निर्माण की प्रक्रिया में बच्चों को शामिल करें। आगे चल कर कहानी निर्माण की अन्य प्रक्रियाओं को भी क्रमबद्ध रूप से शामिल किया जा सकता है जैसे - बच्चों द्वारा बनाए गए चित्रों पर कहानी निर्माण, किसी एक शब्द या शब्दों के इर्द-गिर्द कहानी निर्माण, वास्तविक घटनाओं को कहानी में ढालना, किसी अधूरी कहानी को आगे बढ़ाना आदि।

इस प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर अगर बच्चों के अनुभवों, उनकी पृष्ठभूमि, संदर्भ आदि की बात की जाए तो ये बात निकलकर सामने आती है कि बच्चों ने एक ऐसे राजा की बात या कल्पना की जो झाड़ू-पोछा लगाने का काम करता है और घर बनाने का काम करता है स बच्चों से बात करने के बाद ये बात निकलकर आई कि उनकी माएं दूसरों के घरों में झाड़ू-पोछा-बर्तन का काम करती हैं और अधिकतर बच्चों के पिता या तो किसी के यहां साफ-सफाई या राज मिस्त्री का काम करते हैं। उनके इसी अनुभव ने इस कहानी को आधार दिया और हमारे सामने एक ऐसे राजा की अवधारणा सामने आती है जो झाड़ू-पोछे का काम करता है और घर बनाने का काम करता है। क्योंकि अपने पारिवारिक वातावरण में उन्होंने अधिकतर लोगों को इन्हीं कामों को करते देखा है। इसमें उन्होंने अपने घर और समाज के संदर्भों को सामने रखा। ये बात सही भी है कि बच्चे ही क्या बड़े भी अपने अनुभवों और संदर्भों से बाहर की किसी बात की कल्पना नहीं कर सकते।

दूसरी तरफ बच्चों के पास शायद ये अवधारणा भी है कि राजा एक ऐसा प्राणी है जोकि बहुत ताकतवर होता है और जिसका महल होता है। उन्होंने राजा द्वारा अपने हाथों से एक सोने का महल बनाने की बात की जोकि पेशे के तौर पर घर बनाने का काम करता है। सोने का महल इसलिए क्योंकि बच्चों से बातचीत के आधार पर यह बात निकलकर आई कि उन्होंने अपने घरों में अपनी मां से यह बात सुनी है कि काश, उनके पास भी सोने के जेवर होते, लेकिन ऐसे जेवर तो केवल अमीर लोगों के पास ही होते हैं क्योंकि वे बहुत महंगे होते हैं जिनको अमीर लोग ही खरीद और पहन सकते हैं, और दुनिया की सबसे महंगी चीज सोना होती है और एक राजा ही सबसे अमीर होता है।

इसी प्रकार बच्चों द्वारा इस प्रक्रिया में अन्य शब्दों और अवधारणाओं के इस्तेमाल को भी समझा जा सकता है जैसे सिपाही, खजाना, नागमणि, हनुमान, भक्त आदि।

कहानी ''सुनने-सुनाने-बनाने'' की इस प्रक्रिया पर गौर करें तो पाएंगे कि इसमें घटनाक्रम में एक क्रमबद्धता दिखाई देती है जबकि ये बच्चे पहल बार इस तरह की प्रक्रिया में शामिल हो रहे थे। कहानी के घटनाक्रम में आपस में जुड़ाव रहे इसके लिए शुरुआती स्तर पर शिक्षक को खासतौर से अपनी तरफ से ये जुड़ाव बनाने के लिए प्रयासरत रहना

होगा और बच्चों से लगातार इस पर बात करनी होगी। बाद में बच्चे स्वयं इस क्रमबद्धता को बनाये रख पाएंगे। लेकिन इससे भी पहले एक शिक्षक को ये मालूम होना चाहिए कि एक कहानी को कहानी होने के लिए किन विशेष तत्वों की आवश्यकता होती है। कहानी निर्माण की प्रक्रिया केवल कहानी रचने तक ही सीमित नहीं रहती है बल्कि यह अभिव्यक्ति का एक माध्यम होने के कारण बच्चों को लिखने और चित्र बनाने के लिए भी प्रेरित करती है। बच्चों में लिखने का कौशल विकसित करने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें पढ़ने का कौशल भी विकसित हो। यह प्रक्रिया बच्चों में पढ़ने-लिखने की आदत का विकास करने में उपयोगी हो सकती है।

इस प्रकार भाषा की कक्षा में पढ़ना-लिखना-अभिव्यक्ति-रचनात्मकता-कल्पनाशीलता आदि प्रक्रियाएं समग्र रूप से चलती हैं जो बच्चे के सीखने और समझ को और समृद्ध बनाती है। इनको किसी क्रमबद्धता में नहीं बांधा जा सकता। शैक्षिक और विशेष रूप से भाषा शिक्षण के नजरिए से देखा जाए तो इन सारी प्रक्रियाओं का अपना महत्व है।

इस प्रक्रिया में दो-तीन बच्चों को छोड़कर सभी बच्चों ने कम से कम एक पंक्ति तो अपनी तरफ से जोड़ने की कोशिश की थी। ये बात और है कि मेरे द्वारा यह खास कोशिश की गई थी कि सभी बच्चे इस कहानी में अपनी मौखिक और वाक्यात्मक प्रतिभागिता रखें और ऐसा हुआ भी। एक शिक्षक के तौर पर इस बात पर नजर रखना जरूरी है कि कक्षा के सभी बच्चे कक्षा में होने वाली किसी भी प्रक्रिया में किसी न किसी रूप में प्रतिभाग करें। जो बच्चे बोलकर प्रतिभाग नहीं कर पाए, उनके लिए ये कोशिश की गई कि वे बच्चों द्वारा बोली गई बातों को सुनने और उसको दोहराने में अपनी प्रतिभागिता सुनिश्चित करें। अकसर यह सुनने में आता है कि कक्षा में फलां बच्चे बहुत कोशिश करने के बाद भी फलां प्रक्रिया में शामिल नहीं हो पाते हैं और सारा ठीकरा बच्चों या अभिभावकों या उनकी पृष्ठभूमि के सर पर फोड़ने की कोशिश की जाती है। मेरा मानना है कि ऐसा करते हुए हम बच्चों को किसी प्रक्रिया में शामिल न कर पाने की एक शिक्षक के तौर पर अपनी कमजोरी को छिपाने की कोशिश करते हैं जबकि हम बखूबी जानते हैं हर बच्चा सीख सकता है, यह बात और है कि सभी की सीखने की अपनी-अपनी गति और तरीका होता है। इस बात को समझना बहुत आवश्यक है, तभी हम कक्षा में बच्चों के साथ बेहतर काम कर पाएंगे और उसके अपेक्षित परिणाम प्राप्त कर पाएंगे। ◆

लेखक परिचय : 1993 से शैक्षिक रंगमंच से जुड़े हैं। 2012 से अजीम प्रेमजी फाउंडेशन, उधमसिंह नगर, उत्तराखण्ड में ड्रामा इन एजुकेशन विषय के संदर्भ व्यक्ति के रूप में कार्यरत हैं।

संपर्क : 9456591361; moazzam.ali@azimpremjifoundation.org

स्मृतियों का नाचघर

नवनीत नीरव

बचपन में एक क्षण ऐसा होता है जब एक द्वार खुलता है और भविष्य भीतर प्रवेश करता है।

- ग्राहम ग्रीन

हम जिस समाज में रहते हैं वहां बच्चों की पढ़ाई को लेकर चिंताएं जगजाहिर हैं। माता-पिता, अभिभावक से लेकर शिक्षक तक सभी एक ही बात करते दिखते हैं कि उनके बच्चे पढ़ाई को लेकर गंभीर नहीं हैं। गंभीर नहीं होने का अर्थ है उनकी चिंताओं/उम्मीदों के अनुसार बच्चा काम नहीं कर रहा। 'पढ़ने' का यहां अपना अर्थ है। यानि 'बच्चों को पढ़ने के लिए' कहने का मतलब हमेशा कुछ 'सिखलाने से' होता है। सामान्यतः कहानी-कविता या साहित्य का महत्व उस 'सिखलाने वाली शिक्षा' के अर्थों में कभी नहीं रहा। यानि उन सभी कामों से उसे भरसक दूर रखना जो उसे जीवन जीने के लिए सही अर्थों में तैयार करते हों। इसलिए साहित्य कभी भी अर्थपूर्ण काम के रूप में गिना ही नहीं गया। साहित्य एकांगी भी तो नहीं होता। खेलना-कूदना, गप्प हांकना, चित्र बनाना, कहानी सुनना, दोस्तों के संग समय बिताना आदि बातें भी बच्चों की पंसद हैं। लेकिन इनके साथ मुश्किल ये है कि ये अर्थपूर्ण कामों के श्रेणी में गिने ही नहीं जाते। हकीकत तो यह है कि है बढ़ते बच्चों के रोजमर्रा के दुनियावी संघर्ष को न तो हम सही से पहचान पाते हैं न ही इसमें किसी प्रकार की सहायता कर पाने में सक्षम हैं। इसी तरह की आदत को लेकर हम जीते हैं। इसलिए यह कहीं भी सीखने की प्रक्रिया का भाग नहीं जान पड़ता। जीविकोपार्जन और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता की सोच हमारे मानस पटल पर इतनी हावी है कि बच्चों की शिक्षा के दूसरे विकल्प गौण लगते हैं। फिलहाल ये सोच उस पूरे समाज की है जहां हम रहते हैं। तभी तो हमारे नीति-निर्धारक भी हमसे एक कदम आगे सोचने लगे हैं। जहां गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, नयी शिक्षा की तकनीक, कला-साहित्य आदि के माध्यमों को सूदूर गांवों तक सुनिश्चित करने की बात होनी चाहिए थी वहां 'साईकिल पंचर बनाने' जैसे विकल्प बड़ी संवेदनहीन तरीके से लागू कराए जाने की सिफारिश हो रही है।

हम सभी पढ़े-लिखे समाज से आने का दावा करते हैं। देश-दुनिया की तमाम हलचलों पर हमारी नजर रहती है। तकरीबन हर महीने हो रहे चुनाव हों, ट्रंप से लेकर जिनपिंग की जन्मपत्री हो या फिर ट्वेंटी-ट्वेंटी सब तक हमारी पहुंच है। अगर साहित्य में अभिरुचि हो तो क्लासिक कृतियों से लेकर बेस्टसेलर तक की बातें हफ्ते-महीनों में कभी-कभार कर ही लेते हैं. महीने में दो-चार किताबें पढ़ते तो नहीं लेकिन पढ़ने के लिए खरीद जरूर लेते हैं। या बात उससे थोड़ी आगे बढ़े तो सोशल मीडिया पर कुछ पंक्तियों में उसकी सचित्र चर्चा भी कर लेते हैं। इन सबसे कभी फुर्सत मिले तो अपनी यादाश्त पर जोर देते हुए सोचिएगा कि गत दो-तीन वर्षों में बाल साहित्य के नाम पर या फिर बच्चों के लिए कौन सी किताब आपने हिंदी में पढ़ी है? या फिर उसके प्रकाशन की चर्चा सुनी है। थोड़ा जोर लगाकर अखबारों, सोशल मीडिया की खबरों, किसी बुक स्टोर या फिर किसी समीक्षा-चर्चा आदि की स्मृतियों को स्कैन करने पर पाएंगे कि दो-एक किताबें तो आपको याद

आ गईं। (ये भला हो कुछ साल भर की चर्चित पुस्तकों और बाल साहित्य के लिए दिए जाने वाले पुरस्कारों का जिनके बहाने बाल साहित्य के कुछ टाईटल न्यूज के साथ जेहन में दाखिल हो जाते हैं) पूछने पर कि हमने उसे किसी बच्चे को पढ़ने लिए कभी दिया है शायद इसके जवाब की उम्मीद बेमानी ही होगी। संचार के साधनों का विकास और हिंदी में बाल साहित्य लेखन का कम होना एक कारण बताया जाता है।

''बच्चों में बाल साहित्य के प्रति रुझान कम हो ऐसा नहीं होता। हैरी पॉटर का उदाहरण हम सबके सामने है। बालसाहित्य की अच्छी किताबें बच्चों तक नहीं पहुंचती। उनके माता पिता को नहीं मालूम कि कहां मिलती हैं तो ये दिक्कत है। इंटरनेट मोबाइल कम्प्यूटर थोड़ा फर्क डाल रहे हैं। लेकिन एक अच्छी-सी पुस्तक बच्चे के सामने हो तो वह जरूर पढ़ेगा। जरूर देखेगा और अपने लिए एक नई दुनिया का रास्ता खुद ढूंढ़ेगा और तय करेगा। इसलिए बहुत अच्छा साहित्य लिखा जाना चाहिए और बच्चों तक पहुंचना चाहिए''

(एक रेडियो कार्यक्रम में प्रियंवद)

बाल साहित्य की दृष्टि से विगत कुछ वर्षों को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। महत्वपूर्ण इसलिए क्योंकि हिंदी के वरिष्ठ रचनाकारों ने इस बार बाल साहित्य का रुख किया है। वरिष्ठ रचनाकार विनोद कुमार शुक्ल का बाल उपन्यास एक चुप्पी जगह, कथाकार एवं इतिहासकार प्रियंवद की दो किताबें नाचघर (बाल उपन्यास) और मिट्टी की गाड़ी (कहानी संग्रह) विगत वर्षों में इकतारा, भोपाल से प्रकाशित हुए हैं। इकतारा तक्षशिला एजुकेशनल सोसाईटी का बाल साहित्य एवं कला केंद्र है। ज्ञातव्य है कि 'एक चुप्पी जगह' और 'नाचघर' दोनों उपन्यास किस्तों में भोपाल से ही प्रकाशित होने वाली अन्य बाल पत्रिका 'चकमक' में छप चुके हैं।

'नाचघर' प्रियम्वद का पहला बाल उपन्यास है। यह उपन्यास पंद्रह अध्यायों में बाईस वर्षों के कथानक को समेटे हुए है। इसमें अतनु राय के चौदह खूबसूरत इलस्ट्रेशन भी हैं, जो नब्बे के दशक की कहानी कहते उपन्यास को अनूठे कलेवर में प्रस्तुत करते हैं।

उपन्यास में लेखक के बारे में छपी एक संक्षिप्त टिप्पणी :

''वे इतनी छोटी-छोटी चीजों से, वाकयों से इतना भर-पूरा खूबसूरत उपन्यास बना देते हैं कि बया की याद आ जाती है। यानि जैसे बया को कहानी लिखना आता हो। सुबह पांच बजे सिविल लाइंस के कब्रिस्तान में चहलकदमी करते वक्त उनके मन की कहानी पहली बार वहां सोए लोग सुनते हैं। भाषा का तिलिस्म कोई ऐसे ही तो खड़ा नहीं हो जाता। वे उपरी ब्यौरों के कायल नहीं हैं। वे छांव का पता लगाने धूप का पीछा करते सूरज तक जाते हैं।''

उदारीकरण के बाद हमारे देश की सामाजिक संरचना के ढांचे में परिवर्तन आया है। उसकी प्रतिष्ठा सकल घरेलू उत्पाद और प्रति व्यक्ति आय से अनुमानित की जाती है। इसने कला-संस्कृति को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाया है। हमारे गांव में लोग धान के बीज को बड़े सुरक्षित तरीके से अगली फसलों के लिए बचाकर रखते थे। यह सिलसिला सदियों से चला आ रहा था। विगत दो दशकों में यह सिलसिला लगभग टूट सा गया है। हमने कुछ अतिरिक्त कामों से खुद को आजादी दे दी। अब कुछ भी बचा ले जाने (संजो लेने/संरक्षित करने) की कोई चेष्टा नहीं है। बाजार ने हर चीज को हमारे घर तक उपलब्ध करा दिया है... रोटी... कपड़ा... मकान... मनोरंजन। बाजार ने हमें स्व-केंद्रित कर दिया है या हम खुद होना चाहते थे? यह बात समझ में नहीं आती। हमने भरसक इसको पांव पसारने में सहयोग ही किया है। उदारीकरण के बाद शहरों के भीतर शहर बसने लगे थे... आधुनिक सुविधाओं से युक्त बहुमंजिला इमारतें, हाई टेक बाजार...और भी बहुत कुछ। कहने का मतलब जमीनों के दाम बेहिसाब महंगे हुए। रहन-सहन के तरीके तेजी से बदले। अब हर कोई व्यवसायी था। सबने कई मकान-प्लाट इसलिए खरीदे ताकि भविष्य में उनसे मुनाफा कमाया जा सके। पहले अपनी निजी संपतियां इस सोच की बलि चढ़ीं फिर सार्वजनिक जगहें... हाट, खेल-मैदान, चारागाह, रंगशालाएं, होटल, पार्क, सिंगल स्क्रीन थियेटर और भी बहुत कुछ। धीरे-धीरे सब कुछ जैसे विलुप्त हो रहा है... कस्बों, शहरों और नगरों से। इस बात को लेकर हम भी अभ्यस्त होते जा रहे हैं। अब कुछ भी बचाने या फिर नई पीढ़ी को

हस्तांतरित करने की कोई भावना नहीं। सब कुछ रेडीमेड व्यवस्था पर जैसे आश्रित होता जा रहा है। सामूहिकता जैसे शब्द कोष का एक विस्मृत शब्द बनकर रह गया है। उसी खोते हुए को बचा लेने की कहानी कहता है ''नाचघर''।

'वक्त के बीतने के साथ उसका खारापन कम होता रहता है। बेहद संघर्षों में निकला वक्त भी गुजरकर नरम पड़ जाता है। और जब हम उसे याद करते हैं तो उसमें थोड़ी-बहुत मिठास आ ही जाती है। अगर यह बात बीत चुके सुदूर के वक्त की हो तब तो संघर्ष यादों में पड़े-पड़े मिठा ही जाते हैं।'

- सुशील शुक्ल (संपादक-चकमक, प्लूटो)

वर्तमान में लिखे जा रहे बाल साहित्य में गुजरे वक्त की मीठी यादें ही तो संजोयी गई हैं। बचपन के संघर्षों, भय, चिंताओं, अनुत्तरित सवालों और चुनौतियों की जगह सीमित है। जबकि वास्तव में यही हमारी और आने वाली पीढ़ी के लिए थाती हैं। 'प्रियम्वद का नाचघर' मीठी यादों को संजोने के साथ-साथ टीस की भी कहानी कहता है।

कानपुर शहर के पृष्ठभूमि में 'नाचघर' कहानी है दो किशोरों की - मोहसिन और दूर्वा - जो अपने परिवेश से बाहर कुछ तलाश रहे होते हैं। नाचघर उनका ठिकाना बनता है जहां वे बाहर की दुनिया से संपृक्त हो अपने ख्यालों के पंख लगाकर उड़ने की कोशिश करते हैं। दोनों का किशोरवय निश्छल प्रेम है। उससे उपजा विस्मय और रोमांच भी जो कहानी के साथ विविधरंगी होता जाता है। सधी-सरल भाषा में छोटे-छोटे वाक्य बतियाते से लगते हैं। मानो कोई सामने बैठा नाचघर की आंखों देखी कहानी सुना रहा हो। पात्र आपस में संवाद करते-करते सहसा पाठक से भी बातें करने लगते हैं। बातें भी वैसी कि बहुत सी व्यवहारिक-मानसिक-सामाजिक गिरहें खुल जाएं। मसलन

अंधेरा अब बढ़ गया था। रोशनदान से अजान की आवाज फड़फड़ाती हुई अन्दर आई। मोहसिन उदास हो गया। उसकी अम्मी उसे जरूर ढूंढ़ रही होंगी। लड़की ने मोहसिन की उदासी देखी।

'एक काम करते हैं। तुम मुसलमान हो यह नाम से ही पता चलेगा। कोई मेरे घर से पूछे तो दूसरा नाम बता देना।'

'क्या?' 'मोहन।'

'ऐसे नहीं... तुम भी अपना नाम बदलो- तब।'

'मैं क्यों?'

'कल तुम मेरे घर चलना. वहाँ भी सब काफिरों से मिलने से मना करते हैं।'

'ठीक है...' लड़की हंसी। 'क्या नाम रखोगे?'

मोहसिन ने लड़की को देखा। वह बहुत पास थी। मोहसिन ने नीला आकाश, चिमनियों के इर्द-गिर्द लाल बादलों के गुच्छे, शहतूत, दमपुख्त की केसर, आरती की लौ सब को एक साथ देखा।

'हुस्ना।' वहा हंसा।

अन्य प्रमुख पात्रों में एक तरफ सगीर और उसकी लिल्ली घोड़ी हैं। सगीर एक तरफ वैद्यजी की रामलीला में सीता की सहेली बनता है तो दूसरी ओर बारात में लिल्ली घोड़ी के साथ नाचते हुए 'तू प्रेम नगर का राजा... जैसे गीत गाता है। वह वर्तमान में नाच के अप्रासंगिक होते जाने को लेकर मायूस है। एक कलाकार जो डूबती हसरतों के साथ दरगाह के समीप की दुकान पर चादर बेचता है।

दूसरी ओर पादरी हेबर, मेडलीन की वसीयत और शहर का बड़ा बिल्डर काला बच्चा हैं। जिनके हाथों में नाचघर के भविष्य का फैसला था। यानि शहर की सांस्कृतिक विरासत के बिकने के पीछे जिम्मेदार लोग। इसके साथ-साथ अन्य छोटे-छोटे लेकिन महत्वपूर्ण पात्र इस उपन्यास में रोचकता के साथ बुने गए हैं जो पाठकों को कहानी की लय में शामिल कर लेते हैं। इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है - ''नाचघर''।

''दो सौ साल से ज्यादा पुरानी इमारत पर अब सब ओर से ताले लगे थे। इसके मालिक कहीं इंग्लैण्ड में रहते थे। तब यह शहर की सबसे खूबसूरत इमारत थी। शाम को जब इसकी रोशनियां जलतीं, सड़कों पर इत्रवाला पानी छिड़का

पुस्तक : नाचघर; **लेखक** : प्रियम्वद
मूल्य : 225 रुपये (पेपर बैक)
पृष्ठ संख्या : 114 (कवर सहित)
प्रकाशक : जुगनू प्रकाशन,
भोपाल, मध्य प्रदेश

जाता, बग्घी, पालकियों पर अंग्रेज औरतें आदमी आते, अंदर की बाजों की धुन पर थिरकते जोड़ों की आवाजें बाहर आतीं, तब लोग दूर झुण्ड बनाकर इसे देखा करते। यहां हमेशा तरह-तरह का नाच होता। इतना ज्यादा 'नाच' होता था कि लोगों ने इसका नाम नाचघर रख दिया था।'' (''नाचघर'' का अंश)

उपन्यास में लिल्ली घोड़ी की उदासी, पियानो और बालों की लट, एक रुकी हुई सुबह, द लास्ट ग्लिम्पस, सोन ख्वाब, केशों में केसर वन आदि जैसे अलग-अलग उप-शीर्षक हैं। इन्हीं शीर्षकों के साथ यह उपन्यास चकमक पत्रिका में धारावाहिक के रूप में छपा भी था।

इस उपन्यास में कई रेखाचित्र लेखक ने खींचे हैं। इन रेखाचित्रों से उपन्यास में सामान्य से सामान्य पात्र भी उभर आता है जो या तो घटना विशेष को मुकम्मल करता है या फिर उनको विस्तार दे देता है। जैसे 'लिल्ली घोड़ी की उदासी' का सगीर, 'कंफेशन बॉक्स' में लड़की मेडलिन, 'एक रुकी हुई सुबह' में पचसुतिया पेड़ के नीचे बैठा हुआ आदमी, 'लालमिर्च' का काला बच्चा और नुजुमी आदि। यहां नुजुमी के बारे में उद्धृत एक अंश देखते हैं;

''सीढ़ियां चढ़कर काला बच्चा ने कोठरी के पुराने दरवाजे पर दस्तक दी। यह अलग तरह की दस्तक थी। उसे यह नुजुमी ने सिखाई थी। यह पूरे चांद की रात में रोते हुए भेड़िए की आवाज जैसी थी। नुजूमी इससे पहचान जाता था कि कौन मिलने आया है। उसने हर मिलने वाले को अलग तरह से दस्तक देना सिखाया था। कोई कुएं में बाल्टी डालने जैसी आवाज में थे, तो कोई खतरा देख कर चिल्लाने वाली गिलहरी की तरह थी। जेबरे की धारियों की तरह उसने दस्तक की भी एक भाषा तैयार कर ली थी। दस्तक से नुजुमी पहचान गया कि काला बच्चा है।''

('लालमिर्च' का अंश)

नुजुमी के व्यक्तित्व की विशेषताओं को बड़ी साफगोई लेखक बयां करता है। पाठक उपन्यास खत्म होने के बावजूद भी इन छोटे-छोटे पात्रों को भूल नहीं पाता। इस तरह के कई पात्र हैं जिनका बेहद बारीकी से प्रभावशाली चित्रण करने में लेखक सफल रहे हैं जिनको लेकर बच्चों-किशोरों में कुतुहल बनी रहेगी।

लेखक ने उपन्यास में बच्चों की छोटी-छोटी बातों को लेकर अवलोकन, ख्यालों के ताने-बाने को बखूबी दो निबंधों के माध्यम से व्यक्त किया है। घोड़े और सुबह शीर्षक से ये निबंध मोहसिन और दूर्वा के द्वारा एक प्रतियोगिता में लिखे गए हैं।

''घोड़े मनुष्य के सबसे पुराने दोस्त हैं। इंसानों ने जबसे धरती को जीतना शुरू किया है तब से घोड़े भी उनका साथ दे रहे हैं। ये घोड़े इंसानों को अपनी पीठ पर बैठाकर आल्प्स से गंगा और वोल्गा से अरब के रेगिस्तान के पार दौड़ते थे....'' इसे मोहसिन ने लिखा था।

जबकि दूर्वा सुबह के बारे में लिखती है कि- ''सुबह दो होती हैं। एक वह जिसमें रौशनी होती है। सूरज, चिड़िया, आसमान के रंग, स्कूल जाने वाले बच्चे, सड़क पर झाड़ू लगाने वाले, मंदिरों की पूजा, नल का पानी होता है। इस सुबह के बारे में हम सभी जानते हैं। पर इस सुबह से पहले भी एक सुबह होती है। यह बहुत थोड़ी देर के लिए होती है। इसमें रौशनी नहीं होती। यह अंधेरा खत्म होने और रौशनी शुरू होने से पहले वाले बीच के समय में होती है। या उषा या नसीम से थोड़ा पहले का समय होता है। असली सुबह यही है....''

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 (NCF 2005) इतिहास शिक्षण के बारे में यह कहता है - ''इतिहास को इस तरह से पढ़ाया जाना चाहिए कि उसके माध्यम से विद्यार्थियों में अपने विश्व की बेहतर समझ विकसित हो और वे अपनी उस पहचान को भी समझ सकें जो समृद्ध तथा विविध अतीत का हिस्सा रही है। ऐसे प्रयास होने चाहिए कि इतिहास के विद्यार्थियों को विश्व में हो रहे बदलाओं व निरंतरता की प्रक्रियाओं की खोज में सक्षम बना पाए और वे यह तुलना भी कर सकें कि सत्ता और नियंत्रण के तरीके क्या थे और आज क्या है?''

नाचघर में जीवंत शहर है, लोग हैं, उनके जीवन-यापन हैं। शहर का वर्तमान और इतिहास भी है। अक्सर राजकीय विद्यालयों में इतिहास के शिक्षकों से पठन-पाठन पर बात करने का मौका मिलता है। एक सवाल बार-बार दुहराता हूं- कक्षा में इतिहास का शिक्षण कैसे हो? हर बार जवाब जरूर आता है- ''कहानी के रूप में''। लेकिन ऐतिहासिक संदर्भों को कहानी बनते और उसे सुनाते कम ही देखने-सुनने का मौका मिलता है। लेखक इतिहास के अध्येता रहे हैं। 'भारत विभाजन की अन्तः कथा' इनकी प्रसिद्ध किताबों में से है। इस उपन्यास में ऐतिहासिक संदर्भ कहानी के साथ इस तरह आते हैं कि इतिहास बोध का कोई अतिरिक्त आग्रह पाठक को नहीं लगता। एक बानगी देखते हैं-

''सन 1600 की आखिरी रात के कुछ आखिरी घंटे बचे थे। उसी समय, जब नया साल धरती पर उतरने के लिए सज-संवर रहा था और शेक्सपियर 'हैमलेट' लिख रहा था और आगरा के लाल किले में अकबर गहरी नींद में सो रहा था, रानी एलिजाबेथ ने सामने रखे कागज पर एक शाही मुहर मार दी थी। इसी के साथ इस मुल्क की किस्मत बदलने वाली 'ईस्ट इंडिया' कंपनी का जन्म हो गया। लंदन के कुछ छोटे-मोटे व्यापारियों वाली इस कंपनी ने, सिर्फ दो सौ सालों के अन्दर हिंदुस्तान ही नहीं, दुनिया के आबादी के पांचवे हिस्से को अपने अधीन कर लिया।''

(कन्फेशन बॉक्स का अंश)

''14, 15 अगस्त 1947 की रात को जुड़वां बच्चों की तरह, दुनिया के नक्शे पर दो नए देशों ने जन्म लिया। इनके नाम भारत और पाकिस्तान थे। दुनिया के देशों में बंटवारे होते रहे हैं, पर यह सबसे बड़ा और बुरा बंटवारा था। लाखों की मौत हुई और लाखों लोग बेघर हुए। हजारों अपने परिवारों से बिछड़ गए।''

('लालमिर्च' का अंश)

इसी तरह पार्क का कुआं जिसमें 1857 के गदर दौरान दो सौ बीस अंग्रेज औरतों, बच्चों को मार करके उनकी लाशें फेंक दी गई थीं। जिस पर बनी हुई परी की आंखों से रात में दो सौ बीस आंसू निकलते थे। या फिर कानपुर में जूते बनाने के कारखाने की कहानी जो 20 अक्टूबर 1962 के चीन हमले से जुड़ती है।

इतिहास के संदर्भों का लेखक ने बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। जिससे बाल पाठकों की रूचि इस उपन्यास के कथानक में बढ़ जाएगी।

उपन्यास बहुत ही रोचक तरीके से लिखा गया है। इसमें पठनीयता भी बहुत है। इसमें नाचघर एक सपने की तरह आया है, जिसे प्रियम्वद नयी पीढ़ी की आंखों में भरना चाहते हैं- वर्तमान निर्मम समय में लुप्त होती, नष्ट की जा रही, शिथिल पड़ती विरासतों, संस्कृतियों और कलाओं को बचा लेना। जैसे मोहसीन और दूर्वा ने नाचघर को बचा लिया और उसकी विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं।

अंत में दो तीन बातें जो अगर इस उपन्यास में दुरुस्त कर ली गई होती तो शायद यह उपन्यास और भी प्रभावी हो जाता। मसलन रानी एलिजाबेथ का एक ही संदर्भ दो बार हू-ब-हू प्रयुक्त हुआ है। जिसको पढ़ते हुए पाठक एक दुहराव महसूस करता है। सगीर और उसकी लिल्ली घोड़ी उपन्यास के शुरू में महत्वपूर्ण पात्र के रूप में उभरते हैं। उपन्यास पढ़ते हुए लगता है कि इन चरित्रों का विस्तार जरूरी था। साथ ही 'हम होंगे कामयाब' और 'ऊपर चले रेल का पहिया, नीचे बहती गंगा मैया' को पढ़ते हुए कहानी ठहर सी गई लगती है।

हाल-फिलहाल ऐसे बाल उपन्यास हिंदी में नहीं आए हैं। प्रियम्वद का ''नाचघर'' बाल साहित्य में उनके एक योगदान के रूप में याद किया जाएगा। इसके लिए लेखक और उनके प्रकाशक 'इकतारा, भोपाल' का साधुवाद। ◆

लेखक परिचय : पिछले एक दशक से शिक्षा और ग्रामीण विकास के लिए विभिन्न संस्थाओं के साथ काम किया। देश की प्रमुख साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में एक दर्जन कहानियां प्रकाशित। वर्तमान में टाटा ट्रस्ट्स के पराग कार्यक्रम में लाइब्रेरी प्रबंधक के रूप में कार्यरत हैं।

संपर्क : 9116001168; nnirav@tatatrusts.org

R.N.I.No.RAJHIN/1999/0359 विमर्श

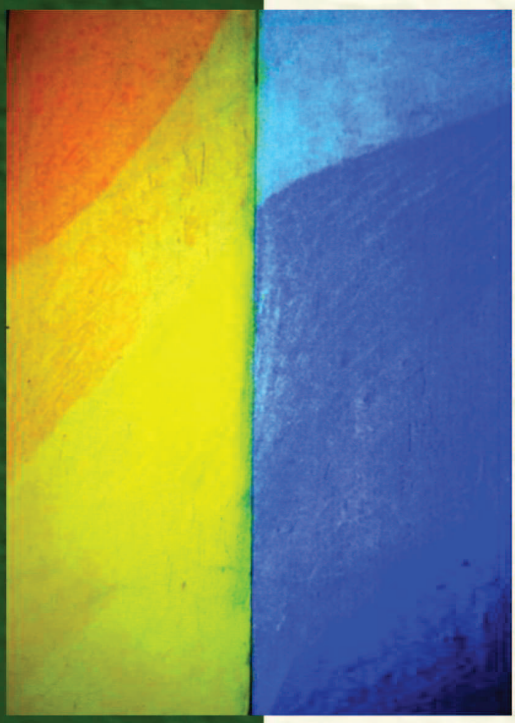

कृतिका राजस्थान के चूरू जिले के केंद्रीय विद्यालय में कक्षा चार की छात्रा है। चित्र बनाने में इनकी गहन रुचि है। चित्रों के अलावा इनकी रुचि संगीत एवं नाट्यविद्या में भी है। नौ वर्षीय कृतिका को चटक रंगों के साथ खेलना बहुत अच्छा लगता है। कृतिका के माता-पिता जाने-माने साहित्यकार हैं।

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित